* ॐ तत्सत् *

# गीता-विज्ञान



(गीता के अनुसार सांसारिक व्यवहार करने का सिद्धान्त
के सम्बाद रूप में संक्षिप्त खुलासा)

---

लेखक व प्रकाशक—

रामगोपाल मोहता

बीकानेर।

सम्वत् १९९४
प्रथम बार ५०००

मूल्य एक आना
डाक व्यय पाँच पैसा

मुद्रक—बाबा मुरारीलाल शर्मा प्रोप्राइटर शर्मा प्रिंटिंग वर्क्स, देहली।

ॐ तत्सत्

# भूमिका

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि व्यावहारिक वेदान्त के साहित्य पर लोगों की अधिकाधिक रुचि हो रही है। 'गीता का व्यवहार दर्शन' प्रकाशित होते ही लोगों ने उसे पूर्ण रूप से अपना लिया। साथ ही साथ सब तरफ से यह मांग आने लगी कि इसका बहुत संक्षिप्त और सरल निचोड़ प्रकाशित होना चाहिए, जो सर्वसाधारण के सहज में समझ आ सके, विशेष करके विद्यार्थियों के लिए गीता का वास्तविक रहस्य समझने में पूर्ण रूप से सहायक हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह लघु पुस्तक लिखी गई है। आशा है कि इससे उक्त उद्देश्य की पर्याप्त सिद्धि होगी।

इस विषय का विशेष अध्ययन करने की इच्छा रखने वाले सज्जनों को "गीता का व्यवहार दर्शन" पुस्तक का अध्ययन जरूर करना चाहिए जो डाक व्यय मात्र के लिए केवल दश आना भेज कर मंगाई जा सकती है। उसमें गीता में प्रतिपादित सभी विषयों का विस्तृत रूप से खुलासा किया गया है। इसकी विवेचनापूर्ण भूमिका लोकनायक माधव श्री हरि अणे, बी० ए० बी० एल० सदस्य केन्द्रीय धारासभा ने लिखी है।

बीकानेर<br>मिति फाल्गुन कृष्णा ७ सं० १९९४,<br>ता० २१-२-३८ मंगलवार

रामगोपाल मोहता

# विषय-सूची

* ॐ तत्सत् *

# गीता विज्ञान

---

## पाठ १

### क्या गीता मनुष्य को अकर्मण्य बनाती है ?

गोपाल की उमर इस समय करीब १७-१८ साल की है । वह अंग्रेजी पढ़ता है । हाल ही में उसने एफ०ए० का इम्तहान दिया है। पढ़ाई में उसका दूसरा विषय हिन्दी और संस्कृत था। उसके पिता जी उसे सदा गीता पढ़ने के लिये कहा करते थे, वह उसे पढ़ता तो था, परन्तु अपनी पढ़ाई में लगे रहने से उसको अवकाश बहुत कम मिलता था और इसमें उसकी भीतरी रुचि भी कम थी। अब इम्तहान हो जाने के बाद उसे फुर्सत होने पर उसके पिता जी ने उससे कहा:—

"बेटा ! अब तो तुम इम्तहान देकर निश्चिन्त हो गये हो; कुछ समय गीता के अध्ययन में लगाओ।"

गोपाल—पिता जी ! आप मुझे बारबार गीता पढ़ने को कहते हैं परन्तु गीता में ऐसा रक्खा ही क्या है ? ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, कर्मकाण्ड आदि अव्यवहार्य धार्मिक ढकोसलों की खिचड़ी पकी हुई है। उनका न तो आपस में मेल ही खाता है और न उनका शुद्ध तात्पर्य ही समझ में आता है। वर्तमान समय के तो यह सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसी पुस्तक पर निरर्थक मगजपची करने के बजाय समयोपयोगी लाभकारी विद्योपार्जन करना ही मैं तो ठीक समझता हूं ।

पिता—बेटा! तुम गीता के अर्थ अब तक समझ नहीं पाये हो, इसी लिये ऐसी बातें करते हो।

गोपाल—समझ क्यों नहीं पाया हूं? आपकी कहासुनी के कारण मैंने गीता की कई टीकायें देखीं; परन्तु जो मैंने आप से कहा, उसके सिवाय मैं किसी और नतीजे पर नहीं पहुंचा। क्या आप मुझे गीता का अध्ययन करवा कर वैसा ही साधु बनाना चाहते हैं, जैसा कि राजा गोपीचन्द्र की माता ने उसे बनाया था?

पिता—हाँ! मैं तुझे साधु बनाना चाहता हूं, परन्तु गोपीचन्द्र जैसा नहीं। साधु क्या होता है, क्या तुम समझते हो?

गोपाल—वाह! क्या यह भी कोई समझने की बात है। देखो, ये भिखमंगे हर शहर में घूमते फिरते हैं। यदि उनका ज्यादा जमघट देखना हो, तो थोड़े ही दिनों में हरिद्वार में कुम्भ का मेला होने वाला है। वहां लाखों की संख्या में ये निकम्मे लोग इकट्ठे मिल जायगे। इनके बोझ से यह देश दब रहा है और इनके अत्याचारों से अन्य-देशों के सामने हमारे देश का सिर मारे लज्जा के नीचे झुक जाता है।

पिता—क्या तुम मुझे ऐसा बेवकूफ समझते हो कि मैं अपने इकलौते बेटे को घरबार छुड़वा कर भिखमंगा बनाऊँगा।

गोपाल—नहीं! वैसा भिखमंगा बनाने की तो आपकी इच्छा नहीं हो सकती, यह तो मैं भी जानता हूँ। परन्तु जिन गेरुए वस्त्रधारी साधुओं को केवल "नारायण हरि" कहने मात्र से आदर सहित खाना मिल जाता है और सेवा-बन्दगी तथा भेंट-पूजा अलग प्राप्त होती रहती है, वैसा साधु बनाने की शायद आपकी इच्छा है। उन महन्तों, मठाधीशों अथवा मण्डलेश्वरों में से किसी का शिष्य बनाने का आपका विचार होगा, जिनके पास बिना परिश्रम के धन—सम्पत्ति के ढेर के ढेर जमा हो जाते हैं और जिनके राजसी ठाठ बड़े बड़े रईसों को भी मात करते हैं। उनका चेला होने से

मैं भी कभी उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो जाऊंगा, क्या ऐसा आपका ख़याल है?

पिता—क्या तुम को मालूम है कि गीता का उपदेश देने वाला कौन था?

गोपाल—श्रीकृष्ण।

पिता—क्या वे संन्यासी थे

गोपाल—नहीं।

पिता—क्या तुम को पता है कि यह उपदेश किसको दिया गया था?

गोपाल—अर्जुन को।

पिता—क्या वह संन्यासी था?

गोपाल—नहीं।

पिता—अच्छा यह भी बताओ कि यह उपदेश किस मौके पर दिया गया था?

गोपाल—महाभारत की लड़ाई आरम्भ होने के समय।

पिता—तो फिर यह भी बताओ कि किस कारण को लेकर यह उपदेश दिया गया था?

गोपाल—अर्जुन अपने स्वजन बान्धवों को आपस में लड़ने के लिये तय्यार खड़े हुए देखकर, अपने कुल का नाश होने की आशंका से घबड़ा गया और युद्ध करके राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा संन्यास लेकर भीख मांग कर खाना अच्छा समझने लगा। इसी से वह लड़ने से इनकार करके शस्त्र छोड़ कर बैठ गया। इस पर उसको श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया।

पिता—फिर उपदेश सुनने के बाद अर्जुन ने क्या किया था?

गोपाल—उसने युद्ध किया और शत्रुओं को पराजित करके अपना राज्य प्राप्त किया।

पिता—जब कि शस्त्र छोड़कर संन्यास लेने और भीख से गुज़रान करने को तय्यार अर्जुन इस गीता के उपदेश सुनने से युद्ध में

प्रवृत्त हुआ और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके उसने अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त की, तो वही गीता तुम्हें संन्यासी कैसे बना देगी ?

गोपाल—पिता जी, यह तो आप भी मानेंगे कि गीता में त्याग और वैराग्य पर बहुत जोर दिया गया है।

पिता—अवश्य, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में जिस त्याग और वैराग्य का प्रतिपादन किया है, वह वैसा त्याग और वैराग्य नहीं है, जैसा कि वर्तमान समय में माना जाता है। घर-गृहस्थी, कुटुम्ब-परिवार और अपने कर्तव्य-कर्मों को छोड़कर संन्यास ले लेने और निठल्ले बन जाने का तो गीता में कई स्थलों पर निषेध किया है। (देखो गीताके अध्याय ३ में श्लोक ४ से लेकर ३० तक, अध्याय ४ में श्लोक २ और ६, अध्याय ६ में श्लोक १-२, अध्याय १८ में श्लोक ७ से १२ तक)

# पाठ २

## त्याग-वैराग्य क्या है ?

गोपाल—तो पिता जी, बताइये कि त्याग और वैराग्य का क्या मतलब है ?

पिता—सुनो, बेटा ! अर्जुन के मन में अपने प्रति व्यक्तित्व के भाव की प्रबलता उत्पन्न हो गई थी। वह यह समझने लगा था कि मैं दूसरों से अलग एक व्यक्ति हूँ और दूसरे सब पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं। यदि मैं लड़ूंगा, तो ये सब मारे जायेंगे और इन की मृत्यु का कारण मैं ही होऊंगा। यदि मैं नहीं लड़ूंगा, तो ये जीते रहेंगे और मैं इनकी हत्या के पाप से बचूँगा। अर्जुन की तरह ही दूसरे कार्यकर्ताओं के मन में भी इसी तरह पृथक् पृथक् व्यक्तित्व का भाव रहता है, जिससे उन्हें अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हो जाता है और उस मोह के कारण वे लोग अनर्थ करके दुःखी होते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के इस भाव को त्यागने का भगवान ने उपदेश दिया है। त्याग और

ग्रहण का जोड़ा है। जहां त्याग होता है, वहां ग्रहण और जहां ग्रहण होता है वहां त्याग भी होता है। त्याग और ग्रहण अकेले अकेले नहीं हो सकते। इसलिए व्यक्तित्व के भाव को त्यागने का यह अर्थ होता है कि अपने को दूसरों से अलग मानने के निश्चय को छोड़कर सब के साथ अपनी एकता के निश्चय को ग्रहण किया जाय। अर्थात् अपने आपको सबके साथ जोड़ दिया जाय। एक छोटे से व्यक्तित्व के तुच्छ भाव को छुड़ाकर अखिल विश्व के साथ एकता के महान् भाव की प्राप्ति करना,—यही गीता का त्याग है।

और देखो, वैराग्य का तात्पर्य यह है कि जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता के जो बनाव हैं, वे सब उपजने और मिटने वाले हैं और क्षण क्षण में बदलते रहते हैं, उनको स्थाई और सच्चे मानकर उनके मोह में उलझे रहने से धोखा और दुःख होता है। अर्जुन को अपने स्वजन बान्धवों के नाशवान् शरीरों का मोह होकर जो घबड़ाहट होगई थी, वह अन्य सांसारिक कार्यकर्त्ताओं को भी बहुधा हुआ करती है। उस मोह को दूर करने के लिये भिन्नता के बदलते रहने वाले इस झूठे बनाव से वैराग्य करने का गीता में उपदेश दिया गया है। वैराग्य और राग का भी जोड़ा होता है। वैराग्य के लये राग का होना आवश्यक है। इसलिये भिन्नता के मिथ्या बनावसे वैराग्य कराके एकता के सच्चे भावों से प्रेम करने का भगावन श्रीकृष्ण का उपदेश है। यही है गीता का वैराग्य।

गोपाल—पिता जी, त्याग और वैराग्य का यह अर्थ तो आपने विचित्र ही बताया। परन्तु गीता में तो अहंकार-त्याग, आसक्ति-त्याग संग-त्याग और ममत्व-त्याग, कर्म-फल-त्याग, आशा-त्याग और कामना-त्याग आदि कई प्रकार के त्याग का जो उपदेश दिया गया है, उस सब की व्यवस्था आप क्या करते हैं ?

पिता—मैं इन की व्यवस्था क्या करूंगा ? वह तो भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कर रक्खी है। सुनो—

मनुष्य जो भी कुछ करता है, वह दूसरों से पृथक होकर अकेला नहीं कर सकता। यहां तक कि दूसरों के सहयोग बिना वह हिल भी नहीं सकता। यदि किसी कार्य में किसी व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता न भी हो, तो भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश रूप महाभूतों और सूक्ष्मशक्तियों की सहायता के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकता और उन पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है। इस लिये यह अहंकार कि "अमुक काम मैं ही करता हूँ और वह मेरे ही किये से होता है" मिथ्या है। इस पृथक् व्यक्तित्व के मिथ्या अहंकार को छुड़वा कर भगवान ने सब के सहयोग को अनुभव करने का उपदेश दिया है।

किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ वा विशेष कार्य में मनुष्य इतना लवलीन अथवा आसक्त हो जाय कि जिससे अपने वास्तविक कर्तव्य पालन करने में बाधा पड़े, तो उससे मनुष्य की अपनी हानि होने के अतिरिक्त समाज और जगत की व्यवस्था बिगड़ती है। इस लिये भगवान् ने विशेष व्यक्तियों, विशेष पदार्थों और विशेष कार्यों ही में संग अथवा आसक्ति छुड़वा कर सब के साथ प्रेम रखने का उपदेश दिया है। मनुष्य जब किसी विशेष व्यक्तियों, विशेष पदार्थों वा विशेष कार्य ही को अपना मान कर उन में ममता कर लेता है, तो शेष सब व्यक्तियों, पदार्थों वा कार्यों से उस का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उनसे द्वेष भी हो जाता है, इस सब का परिणाम बड़ा दुःखदायी होता है। इस लिये भगवान ने विशेष पदार्थों, व्यक्तियों और कार्यों को अपनाने का ममत्व छुड़ाकर सब को अपनाने का उपदेश दिया है।

मनुष्य जितने कर्म करता है, वे सब जब दूसरों की सहायता और सहयोग से सम्पादित होते हैं, तब उनके फल में भी दूसरों का साझा रहना जरूरी है। इसलिए कर्म के फल स्वरूप जो कुछ पदार्थ प्राप्त हों, उन पर अकेले कर्म करने वाले का ही अधिकार नहीं होना चाहिए। यदि कोई अकेला अधिकार जमाता है, तो यह उसकी कृतघ्नता है और वह चोरी करने का अपराधी होता है। इसलिए भगवान् का उपदेश है कि कर्मों के फल पर दूसरों से पृथक् किसी अकेले व्यक्ति का ही

अधिकार नहीं रहना चाहिए, किन्तु सब के कर्मों का फल सब के लिए होना चाहिए, जिसमें स्वयं कर्म करने वाला भी शामिल है। अर्थात् प्रत्येक कर्म करने वाले को उसका फल अपने अपने कार्य क्षेत्र में आने वाले दूसरे व्यक्तियों को बांट कर स्वयं भोगना चाहिए,—यह कर्म-फल-त्याग है।

किसी भी काम में मनुष्य की प्रवृत्ति कोई न कोई उद्देश्य अथवा कामना लेकर ही होती है। निरर्थक चेष्टा कोई नहीं करता परन्तु दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की कामना ही से जो कार्य किये जाते हैं, उनमें दूसरे के स्वार्थों की अवहेलना करने और उन्हें कुचलने का भाव रहता है यह बहुत बड़े अनर्थ का हेतु होता है। इसी से समाज और जगत् में कलह होकर सब को दुःख होता है। भगवान इस पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की कामना का त्याग करवा कर सबके हित की कामना से अपने अपने कर्तव्यों को पालन करने का सबको उपदेश देते हैं। यही गीता का निष्काम कर्म है।

*यह है गीता का त्याग और वैराग्य।* सारांश यह कि गीता किसी को घर-गृहस्थी छोड़कर वन के जाने अथवा भीख मांग कर खाने और संसार पर बोझ होने का उपदेश नहीं देती। बल्कि ऐसे संन्यास का साफ साफ निषेध करती है। गीता मनुष्य को महाकर्ता और साथ ही साथ महा अकर्ता भी बनाती है और महा त्याग के साथ ही साथ अखिल विश्व का स्वामित्व भी देती है।—मैं तुम को ऐसा ही साधु बनाना चाहता हूँ।

# पाठ ३

## बुद्धि-योग

गोपाल—आपकी व्याख्या के अनुसार त्याग और वैराग्य का स्वरूप ही और का और होगया। परन्तु आप जो सब के लिए अपने

कर्तव्य कर्म करने को कहते हैं वे कर्तव्य-कर्म यज्ञादिक धार्मिक कर्म-काण्ड ही हैं, जिनका गीता के तीसरे अध्याय में उल्लेख किया गया है, अथवा कुछ और ?

पिता—देखो बेटा ! गीता में भगवान् ने सर्वत्र बुद्धि से काम लेने का उपदेश दिया है। दूसरे अध्याय ग्यारहवें श्लोक से लेकर अट्ठारहवें अध्याय के तिरसठवें श्लोक तक बुद्धि का उपयोग करके विचारपूर्वक सब काम करने को भगवान् कहते हैं। साम्प्रदायिक धर्म ग्रन्थों की तरह गीता यह नहीं कहती कि अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर हम जैसे चलावें वैसे ही पशुओं की तरह चलते जाओ। गीता मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी को पशु बनने को नहीं कहती, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके काम करने को कहती है। अब तुम जरा विचारो तो सही कि कौरवों-पांडवों की दोनों सेनायें लड़ाई करने को तय्यार खड़ी हैं और शस्त्र चलने में कुछ भी देर नहीं है; उस समय भगवान् अर्जुन को क्या यह उपदेश दे सकते थे कि शुचि-श्रवा लेकर हवन कुण्ड में घृत और शाकल्य की आहुतियाँ देते हुए "स्वाहा स्वाहा" करने लग जाओ

# पाठ ४

## यज्ञ का स्वरूप और वर्ण-व्यवस्था

गोपाल—पिता जी, गीता में तो यह स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मा ने आदि काल में यज्ञ के साथ ही साथ सृष्टि रची। इसलिये सबको यज्ञ करना चाहिए।

पिता—हाँ, यह ठीक है। परन्तु वे यज्ञ क्या हैं, जरा इस पर भी तो विचार करो। तुम जिस यज्ञ का विचार कर रहे हो, वह यज्ञ तो केवल कुछ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक स्थूल साधन है। उस यज्ञ से उत्पन्न होने वाले पर्जन्य भी समस्त जगत् की वर्षा

सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। यज्ञ का वास्तविक और व्यापक अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कह दिया है कि "यज्ञः कर्मसमुद्भवः।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ सबके अपने अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है। फिर चौथे अध्याय में भी कहा है कि "सब यज्ञों को कर्म से उत्पन्न हुआ जान।" इससे स्पष्ट है कि अपने अपने शरीर क योग्यता के कर्तव्य कर्मों को करना ही यज्ञ है। चौथे अध्याय में भगवान ने कई तरह के यज्ञों का उल्लेख करके अन्तमें कहा है कि "ज्ञान-यज्ञ सबसे श्रेष्ठ है।" अर्थात् सब की एकता के ज्ञान सहित अपनी अपनी योग्यता के व्यवसाय, संसार की सुव्यवस्था बनाए रखने के लिये, करना ही सच्चा यज्ञ है। यज्ञ की इस व्याख्या के अनुसार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जो जो व्यवसाय करते हैं वे व्यवसाय, उनके साधन अथवा औजार, जिनके लिये ये व्यवसाय किए जाते हैं वे एवं स्वयं व्यवसाय करने वाला,-सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म के अनेक रूप समझे जाते हैं (देखो गीता अध्याय ४ में श्लोक २४)। समाज की सुव्यवस्था के लिए चार प्रकार के कार्य विभाग की जो व्यवस्था की गई है, यानी शिक्षक वर्ग, जिनको हमारे यहां ब्राह्मण कहते हैं; रक्षक वर्ग, जिनको हमारे यहां क्षत्रिय कहते हैं; वणिक वर्ग, जिनको हमारे यहा वैश्य कहते हैं और श्रमी वर्ग, जिनको हमारे यहां शूद्र कहते हैं तथा इनमें प्रत्येक के अन्तर्गत जो जो नाना प्रकार के छोटे बड़े कार्य करने के भाग तथा विभाग हैं, उन सबके कर्त्तव्य-कर्म यज्ञ हैं। जिस प्रकार शिक्षक वर्ग के अन्तर्गत एक अध्यापन करने वाले ब्राह्मण का शिक्षा सम्बन्धी कार्य यज्ञ है, उसी प्रकार श्रमी वर्ग के अन्तर्गत मैला साफ करने वाले मेहतर का कार्य भी यज्ञ है। स्त्रियों का घर गृहस्थी का काम-काज, सन्तानों का पालन-पोषण और अपने पुरुषों के व्यवसायों में सहायक होना भी यज्ञ ही है। शिक्षक-ब्राह्मण और उसके अध्यापन के कर्म और उसके अध्यापन के सामान तथा उसके शिष्यों में जो आत्मा अथवा परमात्मा व्यापक है, वही आत्मा अथवा परमात्मा

मेहतर व उसके मैला साफ करने के कर्म, उसके झाड़ू तथा जिनका मैला वह साफ करता है, इनमें व्यापक हैं। इसी तरह स्त्री, उसके घर गृहस्थी आदि के काम-काज, इन कामों के सब साधन, घर के लोग एवं बाल बच्चे आदि भी आत्मा अथवा परमात्मा रूप ही हैं। यह सिद्धान्त सभी व्यवसायों पर लागू है। अर्थात् सब में रमता है। इस निश्चय से अपने अपने काम करना ही सच्चा यज्ञ है।

गोपाल—पिता जी इस का मतलब तो यह हुआ कि आप शिक्षा देने वाले ब्राह्मणों के, रक्षा करने वाले क्षत्रियों के, व्यापार करने वाले वैश्यों के और कारीगरी तथा मजदूरी करने वाले शूद्रों (लोहार, बढ़ई, जुलाहे, धोबी, दर्जी, चमार, मेहतर आदि) के कामों को तथा स्त्रियों के कर्तव्यों को एक ही सा महत्व देते हैं।

पिता—मैं क्या इन को एकसा महत्व देता हूं? भगवान् स्वयं कहते हैं कि अपना अपना कर्तव्य-कर्म सबसे श्रेष्ठ होता है (देखो गीता अध्याय ३ में श्लोक ३५ और अध्याय १८ में श्लोक ४७)। समाज की सुव्यवस्था के लिये सब के कर्तव्य-कर्मों की एक समान आवश्यकता है। यदि एक भी व्यवसायी अपना कर्तव्य-कर्म यथावत् पालन न करे, तो सब का काम अटक जाय। किसी कारखाने के सभी चक्के और पुर्जे जब अपना काम ठीक ठीक करते हैं, तभी वह कारखाना अच्छी तरह चल सकता है। इसी प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग अपना अपना काम बराबर करता है, तभी शरीर का व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। ठीक इसी प्रकार जगत में भी सभी लोग अपने अपने कर्तव्य-कर्म यथावत् करके आपस में एक दूसर की आवश्यकताएँ पूरी करें, तभी संसार का व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। इसी लिये इसको यज्ञ-चक्र कहा है (देखो गीता अध्याय ३ का श्लोक १६)। पहिए की धुरी, आरे, नेमी आदि सभी पुर्जों की एक समान आवश्यकता होती है। यद्यपि हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों से किये जाने वाले स्थूल कर्मों की अपेक्षा बुद्धि के विचार द्वारा किये जाने वाले सूक्ष्म कर्मों की योग्यता उच्च कोटि की होती है, इसी लिये विचार

सम्बन्धी कर्म करने वालों का पद ऊंचा रक्खा गया है, तथा स्थूल कर्म करने वालों पर विचारक लोगों का शासन होता है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि स्थूल कर्म करने वालों को अनावश्यक एवं तुच्छ समझ कर पददलित रक्खा जाय और उनका तिरस्कार अथवा अवहेलना की जाय।

गोपाल—पिता जी, इससे तो यह सिद्ध हुआ कि गीता ने जाति की अपेक्षा कर्म को ही प्रधान माना है।

पिता—हाँ, गोपाल! वहाँ जाति आदि का कोई जिक्र नहीं है। यहां प्रधानता कार्य को है और कार्य विभाग के लिये ही वर्ण-व्यवस्था का विधान किया गया है। यह संसार आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है। इन गुणों के नाम सत्व, रज और तम हैं। सत्वगुण ज्ञान स्वरूप है, रजोगुण क्रिया स्वरूप है और तमोगुण स्थूलता अथवा जड़ता स्वरूप है। इन तीनों गुणों की कमी बेशी के आधार पर कार्य करने के चार प्रधान विभाग किये गए हैं। जिन में सत्व-गुण की प्रधानता हो, उनके लिये शिक्षा-सम्बन्धी; रजोगुण की प्रधानता वालों के लिये रक्षा सम्बन्धी; रज-तम गुणों की प्रधानता वालों के लिये खेती और व्यापार सम्बन्धी तथा तमोगुण की प्रधानता वालों के लिये शारीरिक श्रम सम्बन्धी कार्य नियत किये गए हैं। ये चार प्रकार के कार्य विभाग केवल हिंदुओं में ही नहीं हैं, बल्कि सभी सभ्य समाजों में भिन्न भिन्न रूपों में पाये जाते हैं। वर्तमान में हिन्दुओं ने इस कार्य-विभाग की व्यवस्था का दुरुपयोग करके भिन्न भिन्न कार्य करने वाले संघों को जाति का रूप दे दिया और एक दूसरे को सर्वथा पृथक् समझने लग गये। इस किलेबन्दी का यह दुष्परिणाम हुआ कि यह जाति दूसरे लोगों की प्रतिद्वंदिता में ठहरने में भी असमर्थ हो गई। वास्तव में इस कार्य-विभाग की वर्णव्यवस्था के जोड़ की दूसरी कोई हितकर और स्थायी व्यवस्था संसार में आज तक नहीं बनी है।

# पाठ ५

## देवता क्या है ?

गोपाल— तीसरे अध्याय के दसवें और ग्यारहवें श्लोकों में यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करने को कहा है। यह तो बताइये कि आपके बताये हुए यज्ञ से देवता किस तरह प्रसन्न होंगे ?

पिता—पहिले यह समझ लो कि देवता क्या है ? प्राणियों के शरीर में देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने, खाने, पीने, चलने, फिरने, बोलने, विचार करने, संकल्प करने और काम करने आदि की जो जो शक्तियां होती हैं, उनमें से प्रत्येक का समष्टिभाव अर्थात् सम्मिलित भाव देवता है। जो शक्तियां छोटे छोटे रूपों में प्रत्येक शरीर में काम करती हैं, वही शक्तियाँ बृहद् रूपों में जगत् में काम करती हैं और उनको देवता कहते हैं। प्रत्येक शरीर की छोटी छोटी (व्यष्टि) शक्तियों के काम के योग से जगत् की समष्टि शक्तियां पूरित होती हैं। यही देवताओं को प्रसन्न करना है। प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियों को समष्टि शक्तियों में जोड़ देना ही देवताओं के निमित्त यज्ञ करना है। व्यक्तित्व के अहङ्कार रूपी पशु को सब की एकता स्वरूप ब्रह्माग्नि में होम देना—यह ज्ञान यज्ञ है।

गोपाल—तो फिर गीता में जिन देवताओं के अर्चन व पूजन आदि का जिक्र आया है, वे कौन हैं ?

पिता—देखो, गोपाल! जिन लोगों की बुद्धि धन, मान, स्त्री, पुत्र, विषय-भोग और स्वर्गादि सुखों की कामना से खिंची रहती हैं, वे लोग उन कामनाओं की पूर्ति के लिये समय समय पर अनेक अदृष्ट शक्तियों की कल्पना करके उनको देवता मानकर और उन देवताओं को सब के आत्मा-परमात्मा से अलग समझ कर अपनी रुचि के अनुसार उनका पूजन करते हैं और जब अपनी दृढ़ भावना के प्रसाद से उनकी कामनाओं की पूर्ति होती है, तब वे उन कल्पित देवताओं को कामनाओं

की पूर्ति करने वाला मानते हैं। परन्तु गीता में ऐसे देव-उपासकों की निन्दा की गई है (देखो गीता अध्याय ७ के श्लोक २० से २३ तक)।

गोपाल—पिता जी, गीता के सोलहवें अध्याय के अन्त में शास्त्र-प्रमाण से कार्य-अकार्य का निर्णय करने का भी तो भगवान् ही ने उपदेश दिया है और शास्त्र विधि को छोड़ कर मनमानी करने वालों की निन्दा भी की है। शास्त्रों में अलग अलग देवताओं के वर्णन आते हैं।

पिता—गीता की दृष्टि में प्रामाणिक शास्त्र कौन से हैं—इसका निर्णय पहिले ही पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कर दिया है। जहां पर उस अध्याय के आरम्भ में जगत् की भिन्नता के बनावों को अश्वत्थ वृक्ष की उपमा से झूठा बताकर सब भूत प्राणियों तथा जीवात्मा-परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करके अन्त में कहा है कि यह गुह्यतम "शास्त्र" मैंने तुम से कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद का ज्ञान काण्ड, उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र आदि अभेद प्रतिपादक शास्त्र ही भगवान् को मान्य हैं। तेरहवें अध्याय के चौथे श्लोक का भी यही अभिप्राय है।

## पाठ ६

### हिन्दू-धर्म का मूल आधार क्या है ?

गोपाल—तो, पिताजी ! गीता के अनुसार हिन्दू धर्म अथवा आर्य संस्कृति का मूल आधार क्या है ?

पिता—देखो, गोपाल ! एक आत्मा अथवा परमात्मा ही सत्य है और जगत् में जो अनन्त प्रकार की भिन्नता है, वह उस एक ही के अनेक कल्पित नाम और रूप हैं। इस लिये सब की एकता सच्ची और अनेकता झूठी है। यही आर्य संस्कृति का मूल सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर जो देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति

के अनुसार समय समय पर मनुष्यों के पृथक् पृथक् व्यवहारों की व्यवस्थाएं होती हैं, वे आर्य-संस्कृति का कर्मकाण्ड हैं। दूसरे शब्दों में अनेकों में एक और एक में अनेक का सिद्धान्त आर्य संस्कृति का जीवात्मा है और इस सिद्धान्त के आधार पर सांसारिक व्यवहार करना इसका शरीर है। शरीर समय समय पर बदलते ही रहते हैं, परन्तु जीवात्मा सदा एक बना रहता है। इसी तरह कर्मकाण्ड अथवा व्यवहार देश, काल और मनुष्यों की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, मूल सिद्धान्त कभी नहीं बदलता।

गोपाल—तो क्या फिर धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता ? क्या वह भी बदलता रहता है ?

पिता—यदि धर्म से मतलब सब की एकता के सिद्धान्त से है, तब तो यह सदा बना रहता है, कभी नहीं बदलता। परन्तु यदि धर्म से मतलब कर्मकाण्ड, रीति-रस्म, रहन-सहन आदि से है, तो ये अवश्य ही बदलते रहते हैं, क्योंकि ये सब जगत् की भिन्नता के भावों के अन्तर्गत ही होते हैं और व्यक्ति-भेद, देश-भेद, काल-भेद के अनुसार वे भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

गोपाल—क्या सत्य, अहिंसा, क्षमा, अस्तेय, शम, दम आदि मनुष्य मात्र के लिये जो साधारण धर्म कहे गये हैं, वे भी अटल नहीं हैं ?

पिता—इनके लिये भी अपवाद हैं। कई परिस्थितियों में इनके विरुद्ध आचरण करना भी धर्म माना जाता है।

गोपाल—तो क्या नाना मजहब, नाना पन्थ, नाना मत, नाना सम्प्रदाय फिजूल ही हैं ? क्या इनके चलाने वाले बेसमझ थे ?

पिता—नहीं, बेटा! ये फिजूल क्यों हैं। अपने अपने स्थान में सभी उपयुक्त होते हैं और सभी की आवश्यकता होती है। संसार में निरर्थक वस्तु कोई भी नहीं है। जिस समय जिस देश की जनता की जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार बुद्धिमान लोग उनके आचरण की

व्यवस्थाएं बना दिया करते हैं और वे व्यवस्थाएं मजहब, पन्थ, सम्प्रदाय और मत आदि का रूप धारण कर लिया करती हैं। जिन लोगों की बुद्धि का विकास बहुत कम होता है, उनके लिए निम्न कोटि की व्यवस्थाएँ उपयुक्त होती हैं और जिनकी बुद्धि का विकास अधिक होता है, उनके लिए उच्च कोटी की व्यवस्थाएं उपयुक्त होती हैं। जिस तरह एक बालक के लिए वर्ण माला या बारह खड़ी आदि प्रारम्भिक शिक्षा की आवश्यकता होती है और एक पढ़े लिखे मनुष्य के लिए उच्च कोटि के दर्शन-शास्त्र उपयुक्त होते हैं, वही दशा मनुष्य समाज की धार्मिक व्यवस्थाओं की है। मध्यकाल में इस देश की साधारण जनता की मानसिक दशा बहुत नीचे गिर गई थी। इसलिए यहां बहुत से पन्थ और सम्प्रदायों की भरमार होगई। अब जमाना पलट गया है। उन मजहबों, पन्थों और सम्प्रदायों की उपयुक्तता कम होने लगी है और दिन प्रति-दिन कम होती जायगी। शिक्षा का प्रचार अधिकाधिक हो रहा है, जिससे लोगों की विचार शक्ति जागृत हो रही है। तुम्हारे जैसे नव शिक्षित लोग पन्थों और सम्प्रदायों के बन्धनों में नहीं रह सकते। इसलिए आर्य संस्कृति का जो सच्चा स्वरूप है, उसे समझाना अत्यन्त आवश्यक है।

गोपाल—नाना पन्थों, नाना मजहबों और नाना सम्प्रदायों के विषय में जो आपने कहा, वह तो मेरी समझ में आगया; परन्तु इस एकता के सिद्धान्त को नहीं मानने वाले जो दर्शनशास्त्र हैं, क्या वे झूठे हैं?

पिता—नहीं, वे झूठे नहीं हैं। वे सभी इस एकता के सिद्धांत के पोषक हैं। गीता किसी भी दर्शन का तिरस्कार नहीं करती, क्योंकि जहां सर्वत्र एकता का प्रतिपादन है, वहां उससे अलग कोई रह नहीं जाता। गीता में नास्तिक चारवाक दर्शन को भी स्थान दिया गया है। (देखो गीता अध्याय २ के श्लोक २६-२७)।

चार्वाक, जैन, बौद्ध, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य आदि सभी दर्शन मनुष्य को अविचार की दलदल से निकाल कर विचारों में प्रयुक्त करते हैं और जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता को समेट कर एकता की तरफ लाने में सभी सहायक हैं। योग ने सब को एकता करके

प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन शेष रक्खे, सांख्य ने प्रकृति और पुरुष दो ही रक्खे और वेदान्त ने दोनों का एकीकरण करके पूर्ण एकता कर दी। परन्तु सभी दर्शनों का लक्ष्य एकता की तरफ जाने का है, इसके लिए सभी ने कुछ न कुछ काम किया है। इसलिए वे सभी एकता के सिद्धांत के सहायक हैं, विरोधी नहीं। गीता ने सांख्य के सिद्धान्त का तो इतना आदर किया कि प्रकृति और पुरुष के विषय की सांख्य की सभी बात मानी हैं। केवल प्रकृति और पुरुष की एकता की जो त्रुटि सांख्य में थी, उसकी पूर्ति कर दी। ( देखो गीता का तेरहवां अध्याय। )

# पाठ ७

## गीता का प्रधान विषय

गोपाल—अच्छा, पिता जी ! अब यह बताइए कि गीता मनुष्य के लिए किस विषय में विशेष उपयोगी है, जिस से आप बार-बार इसका अध्ययन करने के लिए हम पर जोर डालते हैं।

पिता—बेटा ! यह तो तुम्हें मालूम ही है कि कौरवों ने अन्याय पूर्वक पाण्डवों का राजपाट छीन लिया था, जिसे लेने के लिए दोनों के बीच लड़ाई ठनी थी और उस लड़ाई के आरम्भ होने के समय दोनों तरफ की फौजों में अपने कुटुम्बियों और स्वजन बान्धवों को मरने मारने के लिए तय्यार देखकर कुल संहार का दृश्य अर्जुन के नेत्रों के सामने खड़ा हो गया था। जिससे वह घबड़ा गया और स्वजन बान्धवों के मारे जाने का मोह, उनकी हत्या के पाप से नरक में पड़ने का भय, कुल का नाश हो जाने से धर्म की हानि, स्त्रियों के बिगड़ने और वर्ण-संकर सन्तान उत्पन्न होने की आशङ्का आदि अनेक प्रकार के विचारों से उसका मन डांवाडोल हो गया था और युद्ध में इतने कुटुम्बियों की

हत्या करके राज्य प्राप्त करने की अपेक्षा उसे संन्यास लेकर भीख से जीवन निर्वाह करना श्रेष्ठ प्रतीत होने लगा था। पर, दूसरी तरफ़ अपने स्वाभाविक क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध से पीछे हटना भी उसके लिए कठिन हो रहा था। ऐसी दशा में उसे क्या करना चाहिए, इसका वह कुछ भी निर्णय नहीं कर सका। तब वह अत्यन्त दीन और दुःखी हो भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आकर पूछने लगा कि "इस विकट परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिये? सो आप कृपा करके मुझे बताइये। मेरी अक्ल कुछ भी काम नहीं देती। तब भगवान् ने सबसे पहिले मरने-मारने के विषय में जो उसे मोह हो रहा था, उसे दूर करने के लिये आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया, जिस में यह बताया कि सब शरीरों के अन्दर "मैं" रूप से रहने वाला आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है, किन्तु यह सदा एक समान विद्यमान रहता है और यह सब शरीर नाशवान् हैं, इस लिये सदा रह नहीं सकते। दोनों सेनाओं में ये जितने लड़ने वाले उपस्थित हैं, उन्होंने अनन्त शरीर धारण किये हैं और आगे भी करते रहेंगे। शरीर के मरने से जीवात्मा नहीं मरता। जिस तरह मनुष्य पुराने कपड़े बदल कर नये कपड़े पहिनता है, उसी तरह जीवात्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर धारण करता है। इस लिये मरने-मारने का कोई शोक और मोह नहीं करना चाहिये। आत्मा एक है और शरीर अनेक हैं। यह संसार उस एक ही आत्मा के अनेक रूपों का खेल है। इस एकता के निश्चयपूर्वक इस खेल में जिसके जिम्मे जो कार्य हो, उसे वह अच्छी तरह पूरा करना चाहिये। इसमें जो सुख-दुःख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, पाप-पुण्य, मान-अपमान आदि प्रतीत होते हैं, वे सब आने जाने वाले हैं, अर्थात् स्थिर नहीं रहते और ये परस्पर में जोड़े के रूप में होते हैं। जहां सुख है, वहाँ दुख भी है। जहाँ हानि है, वहां लाभ भी है। जहाँ मान है, वहां अपमान भी है। जहाँ पुण्य है, वहाँ पाप भी है। वास्तव में ये सब एक ही वस्तु के

अनेक रूप हैं, ऐसा समझ कर इन में सम रहना चाहिये। इस तरह सब की ऐक्यता के साम्य भाव से सबको अपने अपने शरीर की योग्यता के व्यवहार इस संसार रूपी खेल को अच्छी तरह चलाने के लिये करते रहना चाहिये। ऐसा करने ही से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ सच्ची सुख-शान्ति को प्राप्त होता है। जो लोग भिन्नता के भावों को सच्चा मान कर व्यक्तित्व के मोह में फंसते हैं और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि में ही लगे रहते हैं तथा दूसरों से पृथक् अपने लिये लाभ उठाने, मान प्राप्त करने, पुण्य उपार्जन करने तथा सुखी होने की कामना से दूसरों के स्वार्थों की अवहेलना करते हैं, उनका पतन होता है। यही सब की एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने का उपदेश भगवान ने अर्जुन को निमित्त करके सारे संसार को दिया है। अर्जुन को अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में जिस तरह मोह हुवा था, उसी तरह का मोह अन्य कार्यकर्ताओं को भी अपने अपने कार्यक्षेत्र में समय समय पर अपनी अपनी स्थिति के अनुसार हुवा करता है। गीता उन सब को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सच्चा मार्ग दिखाती है।

# पाठ ८

## योगाभ्यास

गोपाल—पिता जी, यदि सब की एकता के निश्चयपूर्वक साम्य-भाव से अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना ही गीता का विषय है, तो फिर छठे अध्याय में हठयोग का उपदेश क्यों दिया गया है?

पिता—बेटा! छठे अध्याय में हठयोग का उपदेश नहीं है, क्योंकि हठयोग में जो नेती, धोती, न्योली कर्म, षट्चक्र भेदन आदि

क्रियाएं होती हैं, उनका वहां कोई जिक्र भी नहीं है। जगत् की भिन्नता के भावों में भटकते हुए मन को एकत्व भाव में स्थिर करने के लिये किसी स्वच्छ स्थान पर स्थिरता से बैठ कर ध्यान करने का एक साधन-मात्र बताया गया है, ताकि जिनका मन विचार से स्थिर न हो सके, वे इस अभ्यास से उसे एकाग्र कर सकें। परन्तु सदा इसी अभ्यास में लगे रहने का विधान नहीं है। छठे अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया गया है कि कर्म फल में आसक्ति न रखकर अपने कर्तव्य-कर्म करने वाला ही सच्चा योगी और संन्यासी है। इससे स्पष्ट है कि अर्जुन को योगाभ्यास में लगने का उपदेश नहीं है, किन्तु केवल साधन रूप से योगाभ्यास का उल्लेख किया गया है।

गोपाल—पिता जी, गीता में समाधि का भी तो वर्णन है।

पिता—गीता में वर्णन की हुई समाधि हठयोग की समाधि नहीं है किन्तु सब की एकता के साम्य-भाव में बुद्धि को स्थिर करने को समाधि कहा है। हठयोग की समाधि में शरीर की कोई क्रिया नहीं हो सकती। ऐसी समाधि का उपदेश उस समय बन ही नहीं सकता था।

---

# पाठ ९

## योग शब्द की व्याख्या

गोपाल—पिता जी! चौथे अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने कहा है कि यह योग मैंने सूर्य से कहा। सूर्य ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। इससे विदित होता है कि योग ही का उपदेश दिया गया है।

पिता:—योग शब्द का साधारण अर्थ संयोग, जोड़, एकता, मेल अथवा मिलना आदि हैं और गीता में भगवान् ने दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक में इसका विशेष अर्थ "समत्वं योग उच्यते" किया है

अर्थात् "साम्य-भाव योग" है और अर्जुन ने भी इस उपदेश को समत्व-योग ही समझा है ( देखो गीता अध्याय ६ का श्लोक ३३)। इस से स्पष्ट है कि सब की एकता के साम्य-भाव युक्त आचरण करना ही "योग" शब्द का अभिप्राय है।

## पाठ १०

### सूर्य से समत्व योग का प्रचार हुआ

गोपाल—ठीक है, परन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि सूर्य आकाश में स्थित एक तेजोमय पिण्ड है, उसको श्रीकृष्ण ने यह समत्व योग कैसे कहा और सूर्य ने उसे पृथ्वी पर रहने वाले राजा मनु से कैसे कहा ?

पिता—गीता की रचना पद्य में है। इसमें अनेक स्थलों पर काव्य की आलंकारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। यहां पर जो कहा है कि "मैंने सूर्य से कहा और सूर्य ने मनु से कहा"—इस का अभिप्राय यह है कि इस समत्व योगके आचरण का प्रचार सबसे पहिले परमात्मा की एक विशेष विभूति सूर्य द्वारा हुआ। सूर्य जिस तरह नियत गति से चलता हुआ निर्लिप्तभाव से सब को एक समान प्रकाशित करता है और गति देता है, उसका किसी के साथ राग अथवा द्वेष नहीं होता और न किसी से वह भेद ही रखता है, उसी तरह समत्व योगी का आचरण करना चाहिये। सूर्य के आदर्श से मनुष्य समाज के आदि व्यवस्थापक राजा मनु ने यह समत्व योग ग्रहण किया और मनु ने इसका आगे प्रचार किया।

# पाठ ११

## भक्ति

गोपाल—पिता जी, जब कि सब की एकता के साम्य भाव से आचरण करने का समत्व योग ही गीता का प्रतिपादित विषय है, तो सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक भक्ति पर इतना जोर क्यों दिया गया है ?

पिता—वहां, सब की एकता के साम्य भाव में मन को स्थिर करने के लिए एक और साधन रूप से भक्ति का विधान किया गया है। जिनमें सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं होती और जो लोग छठे अध्याय में वर्णित राज योग का अभ्यास नहीं कर सकते, उनके लिए परमात्मा की उपासना करने के सरल साधन से मन को एकाग्र करने का उपदेश दिया गया है।

गोपाल—इस उपासना के विधान में तो श्रीकृष्ण ने "मुझ में मन लगा, मेरा भजन कर, सब कुछ मेरे अर्पण कर, मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर, मेरा कीर्तन कर" आदि कह कह कर अपनी भक्ति खूब जमाई है। दूसरों को तो अहंकार त्यागने का उपदेश देते हैं, परन्तु स्वयं अहंकार की भरमार कर दी है।

पिता—क्या भगवान् श्रीकृष्ण ने "मेरा मुझ में, मुझको" आदि अपने व्यक्तित्व के लिए कहा है ? क्या उन्होंने कहीं पर अपने पृथक व्यक्तित्व का यह अहंकार किया है कि "मैं अमुक मनुष्य, अमुक वर्ण, अमुक जाति के अमुक मनुष्य का पुत्र जो कृष्ण हूं, उसकी तू उपासना कर ?"

गोपाल—तो फिर क्या कहा है ?

पिता—भगवान ने सारी गीता में स्थान स्थान पर यह कहा है कि "मैं सब में हूं और सब मुझ में हैं, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है। मैं सब भूतों में एक समान व्यापक हूं।" इस प्रकार उन्होंने अपने आप

म अखिल विश्व को दिखाया है। अब जरा विचार करो कि जो अपने को सब में बताता है और उस सर्वरूप की उपासना करने को कहता है, उस पर व्यक्तित्व के अहंकार करने और अपना रौब जमाने का लांछन कैसे आ सकता है ?

गोपाल—जब श्रीकृष्ण ने अपने आपको सब में बताकर अर्जुन को उपासना करने को कहा है, तो उपासना बन ही नहीं सकती, क्योंकि अपने सिवा कोई दूसरा होवे, तब ही उपासना हो सकती है। जो अपने से भिन्न ही नहीं, उसकी उपासना कैसे हो सकती है ?

पिता—जब तक मनुष्य अपने को दूसरों से अलग एक शरीर का पुतला मानता है और मन तथा बुद्धि से दूसरों से अलग होने का अभिमान करता है, तब तक उसको अपने से भिन्न ईश्वर अथवा परमात्मा की कल्पना करके उसकी उपासना करने का साधन बताया जाता है। परन्तु साथ में जब यह कहा जाता है कि "वह ईश्वर अथवा परमात्मा सब में एक समान व्यापक है। ऐसा समझ कर उसकी उपासना करो, तो फिर उस तरह की उपासना के अभ्यास से परमात्मा और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का सहज ही अनुभव हो सकता है। इस एकता के अनुभव के लिए उपासना का साधन बहुत ही सुगम है। सातवें अध्याय में उपासना के वर्णन के आरम्भ ही में भगवान ने अपनी अपरा और परा भेद से दो प्रकृतियों का वर्णन करके चर और अचर अथवा जड़ और चेतन रूप सारी सृष्टि को अपना ही स्वरूप बताया है और इस तरह अपने स्वरूप का वर्णन करके अपनी उपासना करने को कहा है। इसी तरह बारहवें अध्याय तक सर्वत्र अखिल विश्व को ही अपना रूप बताया है। ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को दिव्य दृष्टि से अपने विराट रूप में सारे जगत को अपने अन्दर दिखाकर अपनी सर्व रूपता प्रत्यक्ष दिखा दी। और अन्त में इसी रूप की उपासना करने का उपदेश दिया। भगवान् के उस विश्व रूप की उपासना यही हो सकती है कि परमात्मा को सबके अन्दर व्यापक समझ कर सबके

साथ यथायोग्य प्रेम का बरताव किया जाय और सब के हित के लिए अपनी अपनी योग्यता के कर्म किए जांय।

## पाठ १२

### विराट रूप का रहस्य

गोपाल--पिता जी ! मैं यह नहीं समझा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने छोटे से शरीर में सारे विश्व को कैसे दिखा दिया ? यह तो कोरी गप मालूम देती है।

पिता-गोपाल ! क्या तुम देखते नहीं हो कि बाईसकोप के फिल्मों में बड़े बड़े पहाड़ों, समुद्रों, नगरों, नदियों आदि के दृश्य कैसे दिखाए जाते हैं ? क्या उन फिल्मों में इन सबके समाने की गुंजाइश होती है ? जब हम को स्वप्न आता है, तब न मालूम कितने कितने बड़े दृश्य हम देखते हैं। क्या हमारे अन्दर इतने बड़े दृश्य रहने की गुंजाइश होती है ? मेसमेरिज्म के खेल करने वाले अंगूठे के नख पर बालक को राजा के दरबार आदि के दृश्य दिखा देते हैं। क्या अंगूठे के नख में यह सब समाने की गुंजाइश होती है ?

गोपाल--तो क्या श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जादू का खेल दिखाया था ?

पिता--मेरे कहने का तात्पर्य तुम समझे नहीं। जादू, नजरबन्दी आदि सब मनोयोग की एक क्रिया से दिखाये जाते हैं। जो लोग अपनी मानसिक शक्ति बढ़ा लेते हैं, वे दूसरों पर अपने मन का प्रभाव डाल सकते हैं और अपने मन की बातें दूसरों के मन पर अङ्कित कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण महायोगेश्वर थे। उन्होंने योगबल से अपनी सर्वरूपता का भाव अर्जुन के मन पर अङ्कित कर दिया और वही उसे दीखने लगा। यह शरीर भी एक छोटा सा विश्व है। यदि एक अत्यन्त बारीक वस्तु को बहुत ही बड़ी दिखाने वाले यन्त्र

का निर्माण किया जासके, तो उसके द्वारा इस शरीर में ही यह विश्व दीख सकता है। जिस तरह शरीर अनन्त है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी अनन्त है। वर्तमान में पश्चिमी ज्योतिषियों ने ज्योतिष की वैधशालाओं (Observatories) की दूरबीनों द्वारा यह बात प्रत्यक्ष देख ली है कि ब्रह्माण्डों का कोई अन्त नहीं है। जिस तरह मन की कल्पनायें अनन्त हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। मन को एकाग्र करने से मानसिक दिव्य दृष्टि द्वारा यह बातें प्रत्यक्ष दीख सकती हैं। भगवान ने अर्जुन को इसी मानसिक दिव्य दृष्टि द्वारा विश्वरूप दिखाया था।

## पाठ १२

### चतुर्भुज रूप का रहस्य

गोपाल—पिता जी, ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने अपना मुकुट धारण किये हुए चतुर्भुज रूप भी तो दिखाया है। इससे तो एक ख़ास रूप की उपासना करने का उपदेश ही पाया जाता है।

पिता—उस चतुर्भुज रूप का रहस्य भी तुम को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। उसमें मस्तक पर जो मुकुट है, वह सब की एकता का चिन्ह है। जो महापुरुष बहुजन समाज की एकता के केन्द्र होते हैं, उन्हीं के सिर पर मुकुट शोभा देता है। उस रूप में जो चार भुजाऐं दिखाई जाती हैं, उन में से एक में शंख, दूसरी में चक्र, तीसरी में गदा और चौथी में कमल दिखाया जाता है। शंख शब्दात्मक है, वह विद्या का चिन्ह है। चक्र कर्मशीलता का चिन्ह है, क्योंकि संसार के सब व्यवहार चक्र रूप हैं। गदा शक्ति का चिन्ह है। पद्म अनासक्ति का चिन्ह है। जो पुरुष सबकी एकता के अनुभव युक्त विद्या और बल से, आसक्ति रहित होकर, संसार के व्यवहार करता है, वही परमात्मा स्वरूप होता है और इस भाव की उपासना करने वाला भी परमात्मा रूप हो जाता है।

# पाठ १४

## मूर्ति पूजा

गोपाल— तो क्या पिता जी गीता को मूर्ति पूजा मान्य नहीं है?

पिता—गीता में निस्सन्देह मूर्ति पूजा का विधान नहीं है, क्योंकि गीता कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मूर्ति पूजा निरर्थक है। मूर्ति पूजा भी मन को एक जगह टिकाने का एक प्रारम्भिक साधन है। जिस तरह बच्चों की शिक्षा आरम्भ होती है, तब पहले पहल पट्टी पर वर्णमाला के अक्षर लिख कर सिखाये जाते हैं। आरम्भ में उन अक्षरों के सिखाने की आवश्यकता भी होती है। अक्षरों के बिना, आगे विद्याध्ययन नहीं हो सकता। परन्तु जब बालक लिखने पढ़ने लग जाता है, तब अक्षरों के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह मन को एकाग्र करने के लिये प्रारम्भिक दशा में मूर्ति पूजा की आवश्यकता रहती है। जब मनुष्य समझदार हो जाता है, तब उस की आवश्यकता नहीं रहती।

गोपाल—इस मूर्ति पूजा का केवल हिन्दुओं में ही प्रचार क्यों है? दूसरे मजहब वाले भी तो ईश्वरोपासना में मन लगाते ही हैं।

पिता— जो ईश्वर की उपासना करते हैं, वे सभी रूपान्तर से मूर्ति पूजते हैं। कोई किसी पुस्तक, ग्रन्थ अथवा किताब अथवा चित्र को पूजते हैं। कोई किसी स्थान या दिशा को पूजते हैं। कोई किसी शब्द अथवा नाम को पूजते हैं। कोई किसी मनुष्य को ही ईश्वर या उसका दूत या उसका बेटा मान कर उसकी पूजा करते हैं। कोई सूर्य, अग्नी, जलादि को पूजते हैं। ये सब मूर्त पदार्थ ही हैं। बिना मूर्त अर्थात् अमूर्त तो केवल एक आत्मा ही है, जो सब का "अपना आप" है। दूसरे लोग अव्यवस्थित रूप से मूर्ति पूजा करते हैं, जिससे उनके मन को एकाग्र करने में सफलता मिलनी बहुत कठिन होता है। हिन्दुओं ने बहुत ही व्यवस्थित रूप से ईश्वर की

विशेष विभूति सम्पन्न मूर्ति की कल्पना करके मनुष्याकार चतुर्भुज मूर्ति बनाकर उसके द्वारा ईश्वर की उपासना का अत्यन्त सरल रास्ता निकाल लिया, जिससे मन को एकाग्र करने में बड़ी सुगमता होती है। उस मूर्ति पूजा का तात्पर्य उस मूर्ति ही की उपासना करने का नहीं होता, अपितु उस मूर्ति के द्वारा उस मूर्ति में तथा अखिल विश्व में स्थित परमात्मा की उपासना करने का होता है। इस प्रकार मूर्ति पूजा का जो विधान है और उसके सम्बन्ध के जो मन्त्र व स्तोत्र आदि हैं, उनमें यही भाव भरा हुआ होता है।

गोपाल—मूर्ति पूजा की जो उपासना वर्तमान में हो रही है, वह तो आप जैसे कहते हैं, वैसे नहीं होती। केवल मूर्ति की ही उपासना होती है। मूर्ति को ही विशेष शक्तिसम्पन्न व्यक्ति मान कर उसे बहुमूल्य कपड़ों व गहनों से सजाना, उसको सुलाना, जगाना, केशर चन्दन आदि से उसका अर्चन पूजन करना, उसके सामने स्वादिष्ट भोग प्रसाद के ढेर लगाना और नाचना, गाना, खेल, तमाशे आदि करना ही उपासना का यथार्थ स्वरूप समझा जाता है।

पिता—संसार में बहुत सी अच्छी बातों का अतिक्रम होकर वे हानिकारक हो जाया करती हैं। उसी तरह ईश्वर उपासना का भी बहुत अतिक्रम हो गया है। अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है जो केवल साधन मात्र था, उसी को साध्य बना लिया गया है। लोग जन्मभर इस प्रारम्भिक अवस्था को छोड़ते ही नहीं। इसी को पुरुषार्थ की इतिश्री मानकर सदा बालकों की तरह इस खेल में ही लगे रहते हैं और इतने अधिक धन, समय और शक्ति को लोकहितकर कार्यों में न लगाकर ईश्वर उपासना के नाम पर लगा देते हैं। गीता में तो ऐसी उपासना का कोई विधान नहीं है। व्यक्ति की उपासना का गीता में स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। इतना ही नहीं, वरन ऐसी उपासना करने वालों को आसुरी और राक्षसी प्रकृति के मनुष्य कहा गया है। (देखो गीता अध्याय ९ के श्लोक ११-१२, अध्याय ७

में श्लोक २० से २५ तक)। जो लोग ईश्वर की उपासना के नाम से द्रव्य का इतना अपव्यय करते हैं और मनुष्य शरीर के अमूल्य समय तथा शक्ति को निरर्थक गँवाते हैं, ईश्वर उपासना के नाम पर आपस में ईर्ष्या-द्वेष करते हैं, लड़ते झगड़ते हुए एक-दूसरे की हत्या तक कर देते हैं, धार्मिक-झगड़ों में खून की नदियां बहा देते हैं, सर्व-व्यापक परमात्मा की उपासना में भी इतना भेद रखते हैं कि स्त्रियों तथा नीच जाति के माने जाने वाले लोगों को उससे रोकते हैं और खास जाति के लोग ही उसके ठेकेदार बन जाते हैं, उनके लिये गीता में अज्ञानी, मूढ़, मूर्ख, पागल, असुर, राक्षस आदि विशेषणों का दिया जाना सर्वथा उपयुक्त ही है।

# पाठ १६

## सच्ची उपासना

गोपाल—नौवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'पत्र, पुष्प, फल और जल से जो मेरी पूजा करता है, वह भक्त मुझे प्यारा होता है'। इसका भाव तो यही निकलता है कि मूर्ति पर पत्र-पुष्प आदि चढाने से ईश्वर प्रसन्न होता है।

पिता—मैं पहिले कह आया हूं कि गीता में मूर्ति का तो कोई जिक्र ही नहीं है। फिर उसपर पत्र-पुष्प चढ़ाने का विधान कैसे हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जगत् में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर परमात्मा के ही रूप होते हैं। इस लिये जिस शरीर की जैसी योग्यता होती है, उसी के अनुसार पत्र, पुष्प, फल, जल आदि ही से प्रेम-पूर्वक जो उनकी सेवा की जाय, वही परमात्मा की उपासना होती है। इस श्लोक के बाद के ही श्लोकों में भगवान ने यह स्पष्ट कह दिया है

कि "तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर; मैं सब भूतों में एक समान हूं-इत्यादि।" इससे स्पष्ट है कि पत्र, पुष्प, फल, जल मूर्ति पर चढ़ाने का विधान नहीं है, किन्तु उनके द्वारा शरीरों की सेवा करने का है।

# पाठ १६

## सगुण और निर्गुण उपासना

गोपाल—पिताजी! बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुण उपासना को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे मूर्ति पूजा का ही विधान पाया जाता है।

पिता—देखो, गोपाल! ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखाकर अन्त में कहा है कि "इस तरह मेरी अनन्य भाव से उपासना करने वाला भक्त मुझे तत्त्व से जान कर मुझ में प्रवेश होता है। यह कह कर फिर कहा है कि "मेरे लिए कर्म कर, मेरे परायण हो, मेरा भक्त हो, संग से रहित होकर सब भूतों के साथ वैर भाव से रहित हो अर्थात् प्रेम कर।" इस पर बारहवे अध्याय के पहिले श्लोक में अर्जुन ने पूछा है कि जो इस प्रकार निरन्तर एकता के भाव में जुड़कर आपकी उपासना करता है और जो आपके अक्षर एवं अव्यक्त भाव की उपासना करता है, उनमें उत्तम समत्व-योग युक्त कौन है? उसके उत्तर में भगवान् ने अपने विश्वरूप की उपासना में लगे रहने वाले भक्त को उत्तम बताया है। यहां पर मूर्ति पूजा अथवा किसी व्यक्ति की पूजा का कोई विधान नहीं है। अखिल विश्व के साथ प्रेम पूर्वक सबके हित में लगे रहने की उपासना का विधान है। उसी अध्याय में आगे चल कर तेरहवें से उन्नीसवें श्लोक तक जो उत्तम भक्त के लक्षण कहे

हैं, उनमें अपने व्यक्तित्व के अहंकार से तथा विशेष व्यक्तियों के साथ ममता से रहित होकर सब प्राणियों के साथ मित्रता तथा करुणा आदि से यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करने वाले, सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शुभ-अशुभ, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वों में सम रहने वाले, क्षमा शील, सदा सन्तुष्ट रहने वाले, सब के साथ एकता के साम्य भाव में जुड़े रहने वाले, संयमी, पक्की धारणा वाले, किसी को उद्विग्न न करने वाले, और स्वयं उद्विग्न न होने वाले, स्वाव-लम्बी, पवित्र, चतुर, आसक्ति रहित, प्रसन्नचित्त काम, क्रोध, शोक, भय आदि के वश में न रहने वाले भक्त को अपना अत्यन्त प्यारा भक्त बताया है। भक्त के इस वर्णन में कहीं भी यह नहीं कहा कि मेरे अमुक नामों का इतना जप करने वाले या इतनी मालायें फेरने वाले या अमुक स्तोत्रों का पाठ करने वाले या मेरे किसी विशेष रूपों के ध्यान में लगे रहने वाले अथवा प्रति दिन इतनी बार मन्दिरों या उपासना-स्थानों में पहुँच कर आराधना करने वाले अथवा पञ्चोपचार या षोडशोपचार आदि विधि से अर्चन-पूजन, संध्या-वन्दन करने वाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं। न यह कहा है कि अमुक प्रकार के यज्ञानुष्ठान करने वाले अथवा आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि हठ योग के साधनों में लगे रहने वाले अथवा व्रत-उपवास करके भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि से शरीर को कष्ट देकर तप करने वाले अथवा तीर्थ-यात्रा के निमित्त भ्रमण करने वाले और नदी, तालाबों तथा समुद्रों आदि में नहाने वाले अथवा देव-कर्म, पितृ-कर्म आदि कर्मकाण्डों में लगे रहने वाले भक्त मुझे प्यारे होते हैं। न यही कहा है कि शरीरों पर अमुक प्रकार के चिन्ह लगाने वाले या अमुक प्रकार की वेष-भूषा रखने वाले अथवा अमुक स्थान में निवास करने वाले अथवा अमुक शास्त्रों के मानने वाले या उनके अध्ययन में लगे रहने वाले अथवा शरीरों की बाहरी पवित्रता के आचार-विचार को प्रधानता देने वाले अथवा अमुक जाति, अमुक वर्ण, अमुक आश्रम के लोग अथवा अमुक धर्म, पन्थ, मजहब

अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी ही मेरे प्यारे भक्त होते हैं। जब कि बारहवें अध्याय में जिसका नाम ही "भक्ति-योग" है, इस प्रकार की उपासना का विधान नहीं है, तो इससे स्पष्ट होता है कि संसार में जो अनेक प्रकार की साम्प्रदायिक उपासनाएँ चल रही हैं, उनके लिये गीता में कोई स्थान नहीं है। न इसमें यह विधान है कि अपने कर्त्तव्य-कर्म छोड़कर भगवान् के ध्यान, जप, कीर्तन आदि में लगे रहना चाहिये अथवा घर-गृहस्थी से किनारा करके किसी तीर्थ स्थान में निवास करते हुए भगवत्स्मरण में ही जीवन बिता देना चाहिये। इसमें तो सर्वत्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा को एकसमान व्यापक समझ कर सबके साथ प्रेमपूर्वक यथायोग्य साम्यभाव का व्यवहार करने द्वारा लोक सेवा करने का ही विधान है और गीता के अनुसार यही सच्ची उपासना है। यह उपासना छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि सबके लिये बहुत सुगम है और सभी इसको अच्छी तरह कर सकते हैं (देखो गीता अध्याय ९ के श्लोक २९ से ३२ तक)।

## पाठ १७

### जप और कीर्तन

गोपाल—दसवें अध्याय में विभूति वर्णन में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" अर्थात् यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ और इस से पहिले नवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में "कीर्तन" करने को कहा है। इससे तो जप और कीर्तन करने का विधान पाया जाता है।

पिता—गोपाल, तुम भूल करते हो। देखो, वहां किसी नाम-विशेष का जप करने अथवा कीर्तन करने का उल्लेख नहीं है। गीता में केवल "ॐकार" के जप, कीर्तन एवं चिन्तन का विधान है और "ॐ" शब्द उनकी एकता का वाचक अक्षर है। "ॐ" शब्द अ, उ और म् अक्षरों

का समूह है, जो स्थूल,सूक्ष्म और कारण शरीर अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत अथवा जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति भेद से शरीर की तीन अवस्थाओं आदि त्रिपुटियों की एकता का सूचक है। सारांश यह कि "ॐ" के उच्चारण से सबकी एकता का चिन्तन होता है। इसलिये गीता में इस अक्षर-ब्रह्म का बार बार चिन्तन अथवा उच्चारण करने का विधान है।

## पाठ १८

### मन्दिर और तीर्थों की उपयुक्तता

गोपाल—तब तो, पिता जी, आपकी इस व्याख्या के अनुसार मन्दिर और तीर्थ आदि उपासना के स्थान सब फिजूल हैं?

पिता—ये फिजूल नहीं हैं। जिस उद्देश्य से इनकी रचना हुई थी, यदि उसके अनुसार इनकी व्यवस्था हो और उसी के अनुसार इनका उपयोग किया जाय, तो ये लोगों के लिये बहुत ही हितकारी और कल्याण के साधन हैं।

गोपाल—बताइये, पिता जी, वह उद्देश्य क्या है?

पिता—मन्दिर और तीर्थस्थानोंकी रचना सबलोगोंको एकताके सूत्रमें पिरोकर आपसमें प्रेमबढ़ाने, सबकेलिये कष्टोंमें सहायता प्राप्तहोने और सब प्रकार की उन्नति की व्यवस्थायें करने के लिये हुई थी। प्रत्येक गाँव में एक एक मन्दिर होता था। बड़े शहरों का फैलाव और आबादी ज्यादा होने के कारण उनमें आवश्यकतानुसार अधिक मन्दिर होते थे। मन्दिर में अचल मूर्ति स्थापित की जाती थी, ताकि उस मन्दिर पर किसी व्यक्ति का कोई विशेष हक न रहे। वह ईश्वर की यानी सार्वजनिक सम्पत्ति मानी जाती थी और उस मूर्ति के दर्शन तथा ध्यान के अवलम्बन से लोगों को अपने मन को परमात्मा की एकता में

ठहराने में सहायता प्राप्त होती थी। बस्ती के सब लोग नित्य प्रति नियत समय पर वहाँ दर्शन करने जाते और आपस में मिल कर प्रेम बढ़ाते। मन्दिरों में कथायें, सत्संग, सदुपदेश आदि का प्रबन्ध होता था, जिन से वे बहुत लाभ उठाते। आवश्यकता होने पर मन्दिरों ही में बस्ती की पञ्चायतें हुआ करती थीं, जिनमें सारी बस्ती के हित की बातों पर विचार हुआ करता था। मन्दिर में बालकों की शिक्षा के लिये पाठशाला और विद्यालय भी होते थे और भूखों के लिये अन्न-क्षेत्र होते थे। बाहर से आने वालों के लिये ठहरने का प्रबन्ध होता था। पुजारी अतिथि का सत्कार किया करता था। मन्दिरों के शिखिर पर की ध्वजा आगन्तुक लोगों को सूचना देने का काम देती थी। सुबह मङ्गला की आरती होती थी, जिसके शंख नगारों, घड़ियाल वगैरे की आवाज से सब बस्ती के लोगों को उठने के समय की सूचना मिलती थी। इसी प्रकार दोपहर के भाग की आरती से भोजन के समय की, सांझ की आरती से कामकाज से निवृत होने के समय की और रात की शयन की आरती से सोने के समय की सूचना मिलती थी, ताकि लोग ठीक समय पर अपने व्यवहार यथोचित रूप से कर सकें। इसतरह मन्दिरों से लोगों का बड़ा हित होता था।

तीर्थ स्थानों से भी लोगों का बहुत लाभ होता था। पर्व आदि के अवसरों पर देश के दूर दूर के प्रान्तों के लोग वहां जाते, आपस में मिल कर एक दूसरे के सुख दुःख की बातें करके प्रेम बढ़ाते और एक ही इष्ट पर सब की श्रद्धा होने से आपस की एकता का अनुभव करते। तीर्थ यात्रा से देशाटन का बड़ा लाभ होता था और दूसरे प्रान्तों में बनने वाली वस्तुएं अपने २ प्रान्त में लाकर लोग उनका उपयोग करते थे। तीर्थ स्थानों में संत, महात्मा, ज्ञानी पुरुष निवास किया करते थे। उनके सत्संग और सदुपदेशों से सब कोई लाभ उठाते और वहाँ के संयमी और सादे जीवन से शान्ति प्राप्त करते।

वर्तमान समय में मन्दिरों और तीर्थों की दशा बिलकुल विपरीत होगई है। जिस उद्देश्य से इनकी रचना हुई थी, उसको लोग भूल गये हैं। जगह जगह मन्दिरों की अनावश्यक भरमार होगई है। और वे पुजारियों अथवा मठाधीशों आदि के स्वार्थ साधन और धींगा-मस्ती के अड्डे होगये हैं। लोक हित की व्यवस्थाओं का लोप होगया है इसी तरह ती स्थानों में तीर्थपन कुछ नहीं रहा। ये भी अधिकतर लोगों के भोगविलास के अड्डे और गुण्डों के निवास स्थान हो गये हैं। इस लिये वर्तमान अवस्था में इनसे लोगों के लाभ के बदले हानियां होती हैं और ये समाज की गिरावट के कारण बन गए हैं।

---

# पाठ ११

## ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप

गोपाल—आप के इससारे कथन का मतलब तो मैं यह समझा कि गीता ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानती।

पिता—गीता ईश्वर का अस्तित्व क्यों नहीं मानती? वह नास्तिकवाद तो है ही नहीं। परन्तु ईश्वर को लोग जिस प्रकार सातवें आसमान पर बैठा रहने वाला अथवा गोलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक आदि लोकान्तर में निवास करने वाला अथवा समुद्र में वास करने वाला या देश काल और व्यक्ति में सीमाबद्ध मानते हैं और ऊंचे स्वरों से बांगे देदे कर उसको बुलाते हैं अथवा कई प्रकार के बाजे बजा कर जगाते हैं अथवा मन्त्रों द्वारा उसका आह्वान करते हैं और उसको खाने, पीने तथा भोग विलास की सामग्रियों द्वारा अथवा गर्जे, खुशामद, चापलूसी द्वारा प्रसन्न करके उससे अपना मतलब निकालना चाहते हैं अथवा अपने पापों और कसूरों को माफ करवाना चाहते हैं

अथवा उसको न्यायी, दयालु, कृपालु, दीनबन्धु, भक्त-वत्सल आदि अनेक प्रकार के मनुष्योचित विशेषण देते हैं, इस तरह का खुशामद पसन्द और विलासी राजा—बादशाह जैसा ईश्वर गीता नहीं मानती। वह तो ईश्वर क्या हुआ लोगों के मन का खिलौना हुआ। अपना मतलब निकालने के लिये जिसने जैसा चाहा, वैसा ही उसे बनाकर अपना मन बहला लिया।

गोपाल—तो बताइये फिर गीता कैसा ईश्वर मानती है?

पिता—जो सत्ता अथवा जो शक्ति प्रत्येक शरीर में और सब शरीरों में "मैं" रूप से एक समान व्याप्त है और जो सत्ता अथवा शक्ति सारे विश्व में एक समान व्याप्त हो रही है तथा जो सत्ता अथवा शक्ति सब शरीरों की और सारे ब्रह्माण्ड की आधार है और जो सत्ता अथवा शक्ति शरीरों तथा जगत के बनाव बदलते रहने पर भी नहीं बदलती, सदा एक समान बनी रहती है, गीता के अनुसार वही ईश्वर है, वही आत्मा, वही परमात्मा, वही ब्रह्म, वही खुदा, वही गौड (God) अथवा जो कुछ भी नाम धर दिया जाय, वही सब कुछ है और वही सब का 'अपना आप' है।

गोपाल—उस सत्ता अथवा शक्ति का क्या स्वरूप है?

पिता—विश्व में जितने स्वरुप हैं और जिस किसी भी स्वरूप की कल्पना की जा सकती है, सब उसी के हैं। इस लिये वह किसी खास स्वरूप में रुकी हुई नहीं है। वह सत्ता किसी खास देश या खास स्थान अथवा खास काल अथवा खास व्यक्ति में परिमित नहीं है, किन्तु सब देश, सब काल, सब व्यक्ति उसी सत्ता का एक थोड़ा सा प्रदर्शनमात्र हैं।

गोपाल—तो उसके गुण क्या हैं?

पिता—विश्व में जितने गुण हैं और जितने हो सकते हैं, वे सब उसी के हैं, परन्तु वे किसी खास गुण में परिमित नहीं हैं।

गोपाल—पिता जी, उस का कोई लक्षण भी है या नहीं?

पिता—विश्व में जितने भी लक्षण हैं, उसी के हैं। परन्तु समझाने के लिये इसे सत, चित, आनन्द कहते हैं। अर्थात् जो कुछ भी अस्तित्व है, वह उसका है; जो कुछ प्रतीत होता है, वह उसी की प्रतीति है और जो कुछ अच्छा, प्यारा अथवा आनन्दरूप है, वह उसी से है। वह सत, चित, आनन्द का भाव सब को अपने आप में प्रत्यक्ष अनुभव होता है, क्योंकि अपने आप के होने का अनुभव सब को होता है। अपने आप की प्रतीति सब को होती है और अपना आप सब को अच्छा एव प्यारा लगता है। इसलिये सत, चित, आनन्द भाव सब के अपने आप में स्वतः सिद्ध है।

---

# पाठ २०

## ईश्वर का जगत् से अभेद

गोपाल—इस हिसाब से तो, पिता जी, आपने अपने आप ही को ईश्वर बना दिया।

पिता—क्या ईश्वर कोई बनाने की वस्तु है, जो मैंने बना दी? वह तो स्वतः सिद्ध है।

गोपाल—गीता के अठारहवें अध्याय के इकसठवें श्लोक में कहा है कि ईश्वर सब भूतों के हृदय में बैठा हुआ अपनी माया से सब भूतों को घुमाता है। इससे तो मालूम होता है कि ईश्वर सब से पृथक् है?

पिता—जो ईश्वर सब के हृदय में बैठा है, वह सब से पृथक् कैसे हो सकता है? हृदय में तो अपना आप ही रहता है। इस लिये इसी श्लोक से सिद्ध होता है कि ईश्वर सब का अपना आप ही है।

गोपाल—यदि ऐसा ही है तो इस श्लोक में पृथकता की भाषा का प्रयोग क्यों हुआ है ?

पिता—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब का आधार, सबका प्रेरक, सब का स्वामी, सब में "मैं" रूप से रहने वाला जो आत्मा है, उसी की सत्ता से ये सब क्रियाशील होते हैं। इस लिये शरीरादि के स्वामी आत्मा को ईश्वर कहा है। जो एक शरीर का स्वामी है, वही सब शरीरों का स्वामी है।

गोपाल—इससे तो आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जुदा ही रहा।

पिता—नहीं ! वह जुदा नहीं है। वही अपनी अपरा प्रकृति से मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर रूप बनता है और वही अपनी परा प्रकृति से चेतन रूप होकर उनके स्वामी भाव से उनको प्रेरित करता है।

# पाठ २१

## जीवात्मा और परमात्मा की एकता

गोपाल—पिता जी, शरीर के अन्दर तो जीवात्मा रहता है। जीवात्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

पिता—जो दूसरों से अलग किसी एक व्यक्ति अथवा शरीर में ही अपना अस्तित्व परिमित मानता है, उसकी जीव संज्ञा होती है। जो सब व्यक्तियों एवं सब शरीरों में अपना अस्तित्व मानता है और शरीरों के होने तथा न होने मे भी अपना अस्तित्व सदा विद्यमान मानता है, उसकी परमात्मा अथवा ईश्वर संज्ञा है। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा सब एक ही हैं। जो अपने को जैसा मानता है, वह वैसा ही हो जाता है। देखो, समुद्र की अनेक तरंगें होती हैं,—कोई बड़ी और कोई छोटी—वे सब जल रूप ही होती हैं। जल के सिवाय

और कुछ नहीं होतीं—इसी तरह जीव मात्र की सब भिन्नताएँ एक ही आत्मा अथवा परमात्मा रूप हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं।

गोपाल—अलग अलग जीवों में आत्मा भी अलग तरह का होता होगा। वह छोटे में छोटा और बड़े में बड़ा होता होगा ?

पिता—क्या समुद्र की लहरों में जल भिन्न भिन्न प्रकार का होता है अथवा उस के टुकड़े होकर वह छोटा-मोटा हो जाता है ? सब लहरों में जल एक ही प्रकार का और एक ही समान होता है उसी प्रकार आत्मा सब में एक और सम है। शरीरों के छोटे - बड़े होने से आत्मा छोटा या बड़ा नहीं होता।

# पाठ २२

## अलग अलग जीवों के सुख-दुःख आदि में भेद क्यों ?

गोपाल—अच्छा, पिता जी, यदि आत्मा एक और सम है, तो अलग अलग जीवों के सुख-दुःख आदि एक समान क्यों नहीं होते और उनका एक दूसरे को अनुभव क्यों नहीं होता ? सबको सबका ज्ञान नहीं होता? सब के स्वभाव एक समान क्यों नहीं होते? कोई छोटे, कोई बड़े, कोई ऊँचे, कोई नीचे क्यों होते हैं ?

पिता—गोपाल ! जो अपने को जैसा मानता है, वह वैसा ही हो जाता है। लोग अपने आपको एक दूसरे से कतई अलग मानते हैं और भिन्न भिन्न प्रकार की इच्छाएँ करते हैं। इसलिए सब के स्वभाव और सुख-दुःख एक से नहीं होते और इसी लिये सब के सुख-दुःखों का अनुभव एक दूसरे को नहीं होता।

गोपाल—यदि मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है, तो दुःखी होना अथवा परतन्त्र होना तो कोई नहीं चाहता। सब कोई जब सुखी और स्वतन्त्र होना चाहते हैं, तो ऐसा क्यों नहीं होता ?

पिता—यद्यपि दुःखी और परतन्त्र होना सबको बुरा लगता है, परन्तु यह बात बिल्कुल सच है कि दुःखी और परतन्त्रता से छुटकारा पाने की लोगों की दृढ़ इच्छा नहीं है। इसी लिए वे उनसे छुटकारा नहीं पाते। यह बात स्वतः सिद्ध है कि दुःख और बन्धन अपने को दूसरों से अलग एक तुच्छ, अल्पज्ञ, दीन, सामर्थ्यहीन व्यक्ति मानने तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये दूसरों से ईर्ष्या, राग, द्वेष, घृणा आदि करने से होते हैं। यदि सब के साथ अपनी एकता का दृढ़ निश्चय कर के सबसे प्रेम का बरताव किया जाय, तो मनुष्य महान हो सकता है। फिर दुःख या बन्धन कुछ भी नहीं रहते। जितना ही अधिक दूसरों के साथ एकता का निश्चय किया जाता है, उतना ही अधिक सुख और स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है और सबके साथ पूर्ण एकता का अडिग निश्चय होकर पूर्ण प्रेम का बरताव होने पर पूर्ण सुख और स्वतन्त्रता हो जाती है। जिस तरह किसी स्वतन्त्र राष्ट्र के सभी व्यक्ति राष्ट्र रूप ही होते हैं, अपनी राष्ट्रीयता पर उन सब का एक समान अधिकार होता है और अपने राष्ट्र में सभी स्वतन्त्र होते हैं; परन्तु जो लोग अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव को और व्यक्तिगत स्वार्थों को जितना ही अधिक राष्ट्रीय एकता में जोड़ देते हैं, वे उतने ही अधिक राष्ट्र पर अधिकार प्राप्त करते हैं और जो अपने सारे व्यक्तित्व एवं सारे स्वार्थों को राष्ट्र के साथ पूर्ण तया जोड़ देते हैं, वे राष्ट्र के स्वामी हो जाते हैं। ठीक इसी तरह प्रत्येक जीव वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्र है। परन्तु जितना ही अधिक वह दूसरों के साथ एकता का अनुभव करता है, उतना ही वह स्वतन्त्रता का अधिक अनुभव करता है और पूर्ण एकताका अनुभव करने से पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् सब का स्वामी हो जाता है। परन्तु लोग अपने संकुचित व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठ कर सब के साथ अपनी एकता का अनुभव करके महान् बनना ही नहीं चाहते, इसलिये वे दुःखी और परतन्त्र रहते हैं।

गोपाल—देखिये, पिता जी, भारतवासी विदेशियों की पराधीनता

की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं। वे सभी उससे मुक्त होना चाहते हैं, परन्तु चाहने मात्र से स्वतन्त्र नहीं हो गये ?

पिता—बेटा ! भारतवासियों में अब तक स्वतन्त्रता के भाव अच्छी तरह जागृत नहीं हुए हैं। भारतवासी परतन्त्रता के जितने उपासक हैं, उतने शायद ही कोई दूसरे लोग हों। भारतवासियों ने अपने को इतनी परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ रक्खा है कि उनको रखते हुए स्वतन्त्रता प्राप्त होने की आशा रखना दुराशामात्र है। सबसे अधिक मजबूत बेड़ी धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक संकीर्णता के विचारों की है। भारतीय जनता की विचार शक्ति को धार्मिक गुरुओं और आचार्यों आदि धर्म के ठेकेदारों और धर्मशास्त्रों ने इतना निकम्मा बना दिया है कि सच्ची स्वतन्त्रता का विचार भी उनके दिमाग में उत्पन्न नहीं होता। दूसरी तरफ सामाजिक रीति रस्मों ने जात-पात के हजारों फिरके बनाकर सबको अलग अलग अत्यन्त तंग कोठरियों में बन्द कर रक्खा है। इनके कारण वे न तो एक दूसरे से मिल सकते हैं और न आपस की एकता के भाव ही उनके हृदय में स्थान पा सकते हैं। धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक बन्धनों के कारण एक दूसरे को छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा या अच्छा बुरा मानकर वे आपस में लड़ते-झगड़ते और एक दूसरे से घृणा-तिरस्कार करते हैं। इस देश की पराधीनता के ये ही मुख्य कारण हैं। इन धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक बन्धनों को मिटाकर स्वतन्त्र होना यहां के लोगों के अधिकारों में है, परन्तु वे ऐसा करना नहीं चाहते। इसी से स्वतन्त्र नहीं हो सकते। जब तक परतन्त्रता के ये कारण बने हुए हैं, तब तक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि यह स्थिति न बदली, तो एक प्रकार की परतन्त्रता मिट जाने पर भी दूसरे प्रकार की उत्पन्न हो जायगी।

गोपाल—इस समय तो बहुत से भारतवासी स्वतन्त्रता के संग्राम में लगे हुए हैं।

पिता—स्वतन्त्रता के संग्राम लगने वाले जिन भारतवासियों ने इन धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक बन्धनों से अपना पिंड छुड़ा लिया है, उन्होंने ही देशकी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कुछ सफलता प्राप्त की है, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है। इसी लिये सफलता भी बहुत ही थोड़े अंशों में प्राप्त हुई है। अधिकतर संख्या उनकी है, जो धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक बन्धनों को अपनाये बैठे हैं। इन से छुटकारा पाने वालों की संख्या ज्यों ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों त्यों स्वतन्त्रता बढ़ती जायगी। यही हाल प्रत्येक मनुष्य का है। मनुष्य अपने को एक जीव अथवा शरीर मानता है और शरीर के साथ उसने खास जाति, खास नाम, खास धर्म, खास सम्प्रदाय, खास समाज, खास निवास, खास पद और खास तरह की प्रतिष्ठा की उपाधियाँ जोड़ रक्खी हैं। इनके कारण ही सब दुःख और बन्धन होते हैं। इन उपाधियों से रहित होना यद्यपि उसके वश में है, परन्तु उन्हें वह छोड़ना नहीं चाहता। इससे यह भी स्पष्ट है कि वह दुःख और बन्धन भी छोड़ना नहीं चाहता।

# पाठ २३

## क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है ?

गोपाल—क्या, पिता जी, मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है ?

पिता—स्वतन्त्र है। तभी तो यह व्यवस्था है कि "ऐसा करो और ऐसा मत करो" कर्मों का अच्छा बुरा फल प्राप्त होने की व्यवस्था भी इसीलिये है। यदि पराधीन हो, तो यह बातें नहीं हो सकतीं। पशुओं पर कर्मों के फल और विधि-निषेध की व्यवस्था लागू नहीं होती। मनुष्य बुद्धिमान प्राणि है। वह अपने विचार से इस बात का निर्णय

करता है कि "मैं अमुक काम करूंगा, अमुक नहीं करूंगा" इससे स्पष्ट है कि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ऊँचा चढ़ सकता है और अपने ही कर्मों से गिर सकता है। ( देखो गीता अध्याय ६ में श्लोक ५—६)।

गोपाल—आम लोगों की तो यह धारणा है कि मनुष्य के किये से कुछ नहीं होता। करने कराने वाला सब ईश्वर है।

पिता—इसी उलटी समझ से तो, गोपाल, हमारे देश के लोग परावलम्बी और पराधीन हो गये और इस देश की इतनी गिरावट हो गई। गीता ऐसा नहीं मानती। गीता कहती है कि "ईश्वर लोगों के कर्मों, कर्तापन और कर्म फल को नहीं रचता; स्वभाव ही बरत रहा है। अर्थात् करने कराने वाला सब का अपना आप ही है। (देखो गीता अ० ५ का श्लोक १४)।

## पाठ २४

### प्रारब्ध

गोपाल—पिता जी, बहुत से लोग कहते हैं कि मनुष्य के किये कुछ नहीं होता, जैसा प्रारब्ध होता है, वैसा ही होता है।

पिता—प्रारब्ध भी अपना ही बनाया हुआ है। वर्तमान से पहिले किये हुए कर्मों का फल प्रारब्ध है। इस लिये कर्मों का फल भोगना तो प्रारब्ध के आधीन हो सकता है। परन्तु कर्म करने में प्रारब्ध की कोई आधीनता नहीं है।

गोपाल—फल तो प्रारब्ध के अनुसार सब को ही भोगना पड़ता होगा। उससे छुटकारे का कोई रास्ता भी है या नहीं?

पिता—पहिले के बुरे कर्मों के बुरे फल को मिटाने के लिये वर्तमान में उससे जबरदस्त अच्छे कर्म किये जा तो उस बुरे फल

को मिटाया अथवा घटाया जा सकता है। पहिले के अच्छे कर्मों के अच्छे फल को वर्तमान के बुरे कर्मों द्वारा घटाया या मिटाया जा सकता है। सब की एकता का दृढ़ निश्चय होकर अपने व्यक्तित्व का भाव जिनका मिट जाता है, उनके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, । (देखो गीता अ० ४ का श्लोक ३७)।

गोपाल—इस श्लोक का अर्थ तो लोग यह करते हैं कि सिवाय प्रारब्ध - कर्म के और सब कर्म भस्म होजाते हैं।

पिता—इस श्लोक में ऐसा भाव कहीं भी नहीं है। सारी गीता में ही कहीं दूसरे कर्मों से अलग प्रारब्ध-कर्म का उल्लेख नहीं है। जब पृथक् व्यक्तित्व का भाव ही नहीं रहा, तो प्रारब्ध - कर्म किस पर लागू पड़ेंगे ?

गोपाल—बहुत से ज्ञानी तथा महात्माओं को जब दुःख - सुख भोगते देखा जाता है, तब वे कहते हैं कि प्रारब्ध का भोग है।

पिता—यदि उनको दुःख-सुख बाधा देते हैं, तो वे ज्ञानी नहीं हैं। यदि ज्ञानी हैं, तो लोगों की दृष्टि में उनको सुख-दुःख का होना प्रतीत होता हो, तो भी उनके अन्तःकरण में सुख-दुःख की कोई बाधा नहीं होगी।

---

# पाठ २५

## ईश्वर ने संसार क्यों बनाया ?

गोपाल—पिताजी ! यदि ऐसा ही है, तो ईश्वर ने सुख-दुःख आदि से पूर्ण इस संसार को बनाया ही क्यों ?

पिता—गोपाल, मैं पहिले बता आया हूँ कि जगत् को बनाने वाला ईश्वर उस से पृथक् नहीं है।

गोपाल—गीता के आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि:

हजार युगों का ब्रह्मा का दिन और हजार युगों की रात होती है। दिन होने पर अव्यक्त प्रकृति से सब सृष्टि उत्पन्न होती है और रात होने पर लय हो जाती है। इसी प्रकार नवमें अध्याय में कहा है कि कल्प के आदि में मैं लोगों को रचता हूँ और कल्प के अन्त में वे मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं।

पिता—मैं पहिले बता आया हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को सब का आत्मा कहा है। दूसरों से अलग व्यक्ति नहीं कहा है। वह सब का आत्मा ही अपरा और परा प्रकृति भाव से जगत् रूप होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए आठवें और नवमें अध्यायके सृष्टि रचना विषयक श्लोकोंका यह अभिप्राय निकलता है कि सब के आत्मा-परमात्मा की इच्छा अथवा संकल्प ही की ब्रह्मा अथवा प्रकृति संज्ञा है। जब आत्मा में संकल्प होता है, तब वह सृष्टि रूप से व्यक्त होता है और जब संकल्प लय हो जाता है, तब सृष्टि का लय हो जाता है। यह अनुभव प्रत्येक मनुष्य को भी नित्य प्रति होता है। जागृत और स्वप्न अवस्थाओं में जब मन की क्रिया होती है, तब मनुष्य अपने अपने व्यवहार करते हैं। जब गहरी नींद आती है, तब मन क्रिया रहित हो जाता है और तब सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं। उस समय कुछ भी नहीं रहता। जो दशा प्रत्येक शरीर अथवा पिण्ड की है, वही जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की है।

गोपाल—पहिले पहिल यह संसार कब हुआ ?

पिता—यह संसार अनादि है। इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि संसार पहिले कब हुआ ? यह निरन्तर होता और मिटता रहता है। नदी के प्रवाह की तरह इसका प्रवाह चलता ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी सृष्टि बनाता और मिटाता रहता है। यह चक्कर सदा ही चलता रहता है। इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। (देखो गीता अध्याय १५ का श्लोक ३)।

गोपाल—जब आत्मा अथवा परमात्मा एक ही है, तो वह एक से अनेक क्यों हुआ ?

पिता—एक से अनेक होने की इच्छा स्वाभाविक है। प्रत्येक मनुष्य में एक से अनेक होने की इच्छा होती है। इसी लिए नर और मादा रूप से दो होकर फिर अनेक हो जाते हैं। यह अपने ही अनुभव से विचारो कि एक से अनेक होने की इच्छा क्यों होती है ? इसलिए कि एक से अनेक होने वाला सब का अपना आप है। इसी लिए इस बात का समाधान अपने आप ही के अनुभव से हो सकता है कि मैं एक से अनेक क्यों हुआ और क्यों होता हूँ ?

गोपाल—जब मनुष्य अपनी ही इच्छा से एक से अनेक रूप बनता है, तो फिर इस में दुःख व बन्धन क्यों मानता है ?

पिता—यही तो भूल अथवा अज्ञान है। इसी को मिटाना चाहिए।

गोपाल—सत्, चित् और आनन्द स्वरूप आत्मा में यह भूल क्यों और कैसे हुई ?

पिता—इसका पता भूल मिटाने से अपने आप ही लग जायगा। मनुष्य जब तक इस भूल में रहता है, तब तक इसका पता नहीं लग सकता। जब तक मनुष्य स्वप्न में होता है, तब तक उस स्वप्न के कारण का पता नहीं लग सकता। जागने ही से स्वप्न के विषय में जान सकता है कि यह अपने ही मन की कल्पना थी और कुछ नहीं था।

# पाठ २६

## मोक्ष क्या है ?

गोपाल—जब सब अपने मन ही की कल्पना है, तो फिर मोक्ष क्या वस्तु है ?

पिता—अपने मन की कल्पना से उत्पन्न अनेकता के भावों से जो दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं, उनको सब की एकता के दृढ़ निश्चय से मिटा कर स्वतन्त्रता पूर्वक जगत् में साम्य-भाव से सबके हित में लगे रहना ही मोक्ष है। ( देखो गीता अध्याय ५ के श्लोक १६ से २६ तक )।

गोपाल—पिता जी, ऐसा ही है तो चिन्ता, शोक, भय, रोग, बुढ़ापा, जन्म-मरण आदि नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए शरीर के रहते मोक्ष कैसे हो सकता है? मोक्ष तो शरीर छूटने पर ही होता है।

पिता—यह तुम्हारा भ्रम है। यदि शरीर छुटने से ही मोक्ष होता हो, तो मरने पर सभी मोक्ष को पहुंच जाते। पर मोक्ष प्राप्त हुओं के समाचार तो आज तक नहीं आए। मरने के बाद मोक्ष मानना बहुत भारी धोखा है। मरने के बाद जब शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनुभव करने वाले कोई साधन ही नहीं रहते, तो मोक्ष का अनुभव करेगा कौन? मरने के बाद मोक्ष के धोखे में न आकर इसी शरीर में मोक्ष के अनुभव का उपाय कर लेना चाहिये। मोक्ष और स्वतन्त्रता एक ही बात है। जिस को जितना ही सब की एकता के साम्य-भाव का अधिक अनुभव होता है और वह अनुभव जितना ही अधिक स्थायी होता है, उतना ही वह अधिक स्वतन्त्र या मुक्त होता है। फिर चिन्ता, शोक, भय, रोग, बुढ़ापा, जन्म-मरण आदि के दुःख उसे कुछ भी बाधा नहीं देते। यह बात अवश्य है कि पूर्णता एक जन्म में होनी कठिन है। वह अनेक जन्मों के अभ्यास से प्राप्त होती है। परन्तु जो इस समत्वयोग में लग जाता है, उसके दूसरे जन्म भी उत्तरोत्तर उन्नत होते हैं और उन्नति करता करता वह पूर्ण मुक्त हो जाता है। उसमें लगा हुआ कभी गिरता नहीं। ( देखो गीता अध्याय ६ के श्लोक ४० से ४५ तक )।

# पाठ २७

## परलोक

गोपाल—पिता जी, अब यह बताइये कि मरने के बाद क्या होता है ?

पिता—देखो बेटा, मनुष्य जीवित अवस्था में जो कुछ कर्म शरीरसे अथवा मन से करता है, उनके संस्कार उसके चित्त पर एकत्रित होते रहते हैं और उनके प्रभाव से मरते समय जिन भावों या स्मरण होता है, उन्हीं के अनुसार उसका भविष्य बनता है। यदि उसने अपने जीवन में अच्छे काम किये हैं, तो मरते समय अच्छे भाव होंगे और मरने के बाद श्रेष्ठ गति को प्राप्त होगा। बुरे कर्म करने वाले को बुरी गति प्राप्त होगी। श्रेष्ठ कर्म करने वालों को फिर से मनुष्य शरीर और सुख के साधन प्राप्त होंगे। निकृष्ट कर्म करने वालों को हीन योनियाँ और दुःख के साधन प्राप्त होंगे। मनुष्य शरीर में जैसे कर्म किये जाते हैं उन्हीं के अनुसार आगे की नाना प्रकार की योनियाँ एक के बाद दूसरी प्राप्त होती रहती हैं।

गोपाल—स्वर्ग तथा नरक क्या हैं और कहाँ हैं ?

पिता—स्वर्ग नरक मन के सूक्ष्म भाव हैं। मन ही अपने कर्मानुसार स्वर्ग और नरक की कल्पना करता है और सूक्ष्म शरीर से उनके कल्पित भोग भोगता है। जिस तरह स्वप्न अवस्था में मन नाना प्रकार के बनाव करता है और भोग भोगता है तथा अपने को सुखी या दुःखी अनुभव करता है, उसी तरह स्थूल शरीर छूटने पर सूक्ष्म शरीर मन की कल्पना के अनुसार स्वर्ग या नरक का बनाव करके उनके सुख या दुःख भोगता है। जो लोग दूसरे जन्म में स्वर्गादि सुखों की कामना से परोपकारादि शुभ कर्म करते हैं, उनका मन उन शुभ कर्मों के प्रताप से मरने के बाद अपने लिये स्वर्ग की रचना कर लेता है। जो लोग दूसरों को पीड़ा देनेवाले कुकर्म करते हैं, उनका मन

अपने मलीन भावों के कारण मरने के बाद दुःखदायी नरकों की कल्पना करके उनके दुःख भोगते हैं।

गोपाल—गीता के आठवें अध्याय के अन्त में मरने के बाद शुक्ल और कृष्ण रूप दो गतियों का वर्णन है। उसमें कहा है कि शुक्ल गति में जाने वाला पीछा नहीं लौटता और कृष्ण गति में जाने वाला पीछा आकर जन्म लेता है। वहां पर ब्रह्म लोक आदि लोकों का भी उल्लेख है। इसका क्या तात्पर्य है?

पिता—शुक्ल और कृष्ण गतियों का जो वर्णन है, वह गीता का अपना मत नहीं है। पूर्व काल में लोग ऐसा मानते थे कि परमात्मा की भेदोपासना करने वाला मरने के बाद शुक्ल गति से होकर परमात्मा को प्राप्त होता है। फिर पीछा जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। वैदिक कर्मकाण्ड में लगे रहने वाला कृष्ण गति से होकर चन्द्रलोक जाकर फिर पीछे इस लोक में जन्म लेता है। गीता के आठवें अध्याय के २६ वें और २७ वे श्लोक में यह स्पष्ट कर दिया है कि जगत में ऐसी मान्यता चली आ रही है, परन्तु सब की एकता के साम्य-भाव का पूर्ण रूप से आचरण करने वाला समत्व-योगी इस मान्यता की उलझन में नहीं पड़ता। वह यहां का यहां ही जीवनमुक्त हो कर स्वयँ परमात्म भाव में स्थित हो जाता है। उसके लिए कहीं आना-जाना शेष नहीं रहता। जाना-आना अपने से कुछ जुदा हो, तब होता है। जहां सर्वत्र एकता हो जाती है, वहाँ कौन कहाँ जावे और कौन कहाँ आवे? जब तक किसी लोक में जाने का भाव रहता है, तो वहाँ से आना भी पड़ता है; चाहे वह ब्रह्मलोक हो या और कोई लोक। (देखो गीता अध्याय ८ में श्लोक १६)।

---

# पाठ २८

## श्राद्ध पर गीता का मत

गोपाल—अच्छा पिता जी, अब यह बताइये कि मरे हुए पितरों के निमित्त हम हिन्दू लोग जो श्राद्ध करते हैं, उस विषय में गीता का मत क्या है ?

पिता—मरे हुए पितरों के निमित्त पितृ-कर्म करने वालों को तामसी श्रद्धा कही गई है (देखो गीता अध्याय १७ का श्लोक ४); परन्तु श्राद्ध केवल हिन्दू ही नहीं करते। रूपान्तर से प्रायः सभी लोग करते हैं। मरे हुए लोगों की बरसी, शताब्दी, अर्धशताब्दी आदि के दिन सभी मजहबों और सभी समाजों के लोग उनकी याद करके रोते, चिल्लाते और शोक मनाते हैं। मकबरों और चित्रों पर पुष्प व हार चढ़ाते और कई प्रकार के उत्सव आदि करते हैं। यह रूपान्तर से श्राद्ध ही तो है।

# पाठ २९

## तप या शिष्टाचार

गोपाल—जो लोग शरीर को अनेक प्रकार के कष्ट देकर भावी सुखों के लिये तपस्या करते हैं, उनकी दूसरे जन्म में क्या गति होती है ?

पिता—गीता ने शरीर को कष्ट देने वाले तपों की बहुत निन्दा की है। भूखे-प्यासे मरने, सर्दी-गर्मी के कष्ट सहने, औंधे लटकने, सूलियों पर सोने आदि नाना प्रकार की काया को क्लेश देने वाली तपस्याओं को तामसी तप कहा है और ऐसे तप करने वालों को

आसुरी प्रकृति का बताया है। इसलिये गीता के अनुसार इनकी वही गति होती है जो असुरों को होती है।

गोपाल—अठारहवें अध्याय के श्लोक पांच में तप को भी आवश्यक कर्त्तव्य और मनुष्य को पवित्र करने वाला कहा है?

पिता—वह तप कौन सा है, इसका खुलासा पहिले ही सत्रहवें अध्याय में किया गया है। माता, पिता, गुरु आदि देवों, सात्विक गुणों वाले ब्राह्मणों, बड़ों और बुद्धिमान पुरुषों की पूजा करना, पवित्र रहना, सरलता रखना, ब्रह्मचर्य से रहना, किसी को पीड़ा न देना, सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, मन को प्रसन्न, शान्त, शुद्ध और संयम में रखना आदि शिष्टाचार ही को गीता ने तप माना है। ये शिष्टाचार सभी मनुष्यों के लिये आवश्यक कर्त्तव्य हैं। यह मनुष्य को पवित्र करते हैं। शरीर को कष्ट देने वाले तामसी तपों से कौनसी पवित्रता होती है? वे तो इस जन्म में तथा दूसरे जन्म में सदा क्लेश ही देते हैं।

गोपाल—क्या गीता में व्रतोपवास आदि को भी तामसी तप माना है?

पिता—जबरदस्ती भूखे-प्यासे रहने से शरीर को कष्ट होता है और वह कृश होता है और मन विक्षिप्त रहता है, जिससे वह एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिये गीता में इनका निषेध है। मन को एकाग्र करने के लिये गीता में नियमित आहार विहार का विधान किया गया है। (देखो गीता अध्याय ६ में श्लोक १६ और १७)।

## पाठ ३०

### दान

गोपाल—गीता में दान देने का जो विधान किया गया है, क्या वह स्वर्ग प्राप्ति के लिये नहीं है?

पिता—किसी भी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से या स्वयं कष्ट पाकर दान देने को गीता में राजस दान कहा है।

गोपाल—जब फल के उद्देश्य से दान देना मना है तो फिर दान दिया ही क्यों जाय ? बिना उद्देश्य के कोई काम बन ही नहीं सकता।

पिता—दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन हैं। एक तो दाता को पदार्थ त्यागने का अभ्यास होता है, जिससे उसकी ममत्व की आसक्ति कम होती है और दूसरा जिन लोगों के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन न हों और जिनमें अपनी उन्नति करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग सहायता देकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति कराने में सहयोग दें, ताकि समाज में अनुचित विषमताजन्य अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न न हो।

इसलिये दान देना अपना कर्त्तव्य समझकर किसी भी तरह के फल के उद्देश्य के बिना देश, काल और पात्र का विचार करके जो दान दिया जाता है, वह सच्चा दान है। वैसा ही दान देने का गीता में विधान है।

गोपाल—देश, काल और पात्र से मतलब ग्रहण, सोमवती, संक्रान्ति आदि पर तीर्थ स्थानों में पण्डे, पुरोहितों, साधु, संन्यासियों आदि को दान देने का होगा।

पिता—नहीं, गीता में इस तरह के अन्धविश्वास के लिये स्थान ही नहीं है। देश, काल और पात्र का तात्पर्य यह है कि जिस देश और जिस काल में जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता हो और जिसके बिना वह कष्ट पाता हो अथवा जिस वस्तु के प्राप्त होने से वह अपना तथा दूसरों का हित कर सकता हो, वैसा दान करना चाहिये।

# पाठ ३१

## श्रद्धा

गोपाल—पिता जी, जब आप यह कहते हैं कि गीता में अन्ध विश्वास को स्थान ही नहीं है, तो फिर उसमें बार बार श्रद्धा के ऊपर जोर क्यों दिया गया है ?

पिता—देखो गोपाल, संसार का प्रत्येक काम श्रद्धा के आधार पर होता है। किसी भी काम के लिये पहिले श्रद्धा अथवा विश्वास करना पड़ता है। जब बालक विद्या पढ़ता है, तो गुरु पर विश्वास करके ही उसके बताये हुए अर्थ को मानता है। हम लोग जब कभी किसी व्यवसाय में प्रवृत्त होते हैं, तो किसी न किसी की कही हुई अथवा लिखी हुई अथवा दूसरों का अनुभव की हुई बात पर विश्वास करके ही प्रवृत्त होते हैं। परन्तु एक बार श्रद्धा करके किसी काम में प्रवृत्त होने के बाद फिर उसके साथ विचार जोड़ना आवश्यक है। विचार के बिना सदा श्रद्धा-विश्वास के ही आधार पर चलते रहना यह मनुष्यता नहीं, किन्तु पशुपन है। मनुष्य में पशु से यही तो विशेषता है कि मनुष्य में बुद्धि द्वारा विचार करने की योग्यता है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि से काम न लेकर केवल दूसरों के विश्वास ही पर सदा चलता रहता है, उस अन्ध विश्वासी को एक प्रकार का पशु ही समझना चाहिये। गीता में किसी काम में प्रवृत्त होने के लिये श्रद्धा को अवश्य महत्व दिया गया है, परन्तु उसी के साथ बुद्धि योग को उससे भी अधिक महत्व दिया है। इससे स्पष्ट है कि गीता में अन्ध श्रद्धा को स्थान नहीं।

जन्म

गोपाल—पिता [illegible] आत्मा एक, सम और स्वतन्त्र है तो [illegible] जन्म लेता है और मर कर नाना योनियों में दूसरा शरीर धारण करता है? क्या उसके बहुत से टुकड़े हो जाते हैं?

पिता—एक ही आत्मा अनेक भाव धारण करता है। उसका जो भाव पृथक्ता के अहंकार से अपने को मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के समूह में रुका हुआ जीव मानता है वही नाना जन्म धारण करता है और सुख दुःख भोगने का अनुभव करता है। परन्तु जब वह पृथक्ता के भाव को छोड़ कर एकता का पूर्ण रूप से अनुभव कर लेता है, तब वह जन्म धारण करने और सुख-दुःख भोगने से रहित अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द भाव में स्थित होकर पूर्ण रूप से मुक्त होने का अनुभव करता है। वास्तव में आत्मा एक, सम एवं सदा मुक्त स्वभाव ही है। अपनी ही इच्छा से वह यह पृथक्ता का बनाव करता है, जिस तरह कि नाटक का अभिनय करने वाले लोग अपनी खुशी से भिन्न भिन्न प्रकार के स्वांग धारण करते हैं। कोई राजा, कोई कैदी, कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई धनी और कोई गरीब बनता है। जब तक वे अभिनय करते हैं, तब तक वे जुदे जुदे रूपों में होते हैं। अभिनय के बाद वे सब एक ही मण्डली के सदस्य होते हैं। यही स्थिति राष्ट्र की है। राष्ट्र के व्यक्ति नाना प्रकार के व्यवसाय करते हैं। वे व्यवसाय की दृष्टि से पृथक् पृथक् होते हैं, परन्तु राष्ट्र की दृष्टि से वे एक होते हैं। इसी तरह एक ही आत्मा रूपी राष्ट्र के नाना भाव रूपी व्यक्ति हैं। मनुष्य को जब स्वप्न आता है, तब वह अपने ही मन के संकल्प से नाना प्रकार के बनावों का अनुभव करता है। आप ही अनेक रूप हो जाता है। शहर, वन, नदी, पहाड़, मनुष्य, पशु आदि अनेक

प्रकार के रूप जो स्वप्न में प्रतीत होते हैं, वे स्वप्न देखने वाले की अपनी ही कल्पना होती हैं। स्वप्न में अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं होता और जागने पर भी अपने सिवाय वहां कोई नहीं रहता। स्वप्न में अनेक प्रतीत होने वाले भाव सब एक अपने ही थे, ऐसा निश्चय होजाता है। यही हाल जागृत अवस्था का है। एक ही आत्मा अनेक कल्पित रूप धारण करता है। वास्तव में एक के सिवाय अनेकता कुछ है ही नहीं। जब हम गाढ़ निद्रा में होते हैं, तब ये नाना भाव सभी मिट जाते हैं। उस समय न कोई बड़ा होता है, और न छोटा; न कोई राजा होता और न रंक; न सुखी होता है और न दुःखी। यदि नाना भाव सच होते तो वे उस समय भी रहते।

---

# पाठ २२

## आत्मा अनेक भाव होने के दुःखदायक बखेड़े क्यों करता है ?

गोपाल—पिता जी, यदि आत्मा एक, सम और स्वतन्त्र है, तो वह अनेक भाव होकर अनेक शरीर धारण करके नाना प्रकार के कष्ट उठाने और बन्धनों में बन्धने का बखेड़ा क्यों करता है ?

पिता-गोपाल ! मैं तुमको यह बता रहा हूं कि आत्मा के सिवाय और कुछ है ही नहीं। सब कुछ आत्मा ही है और तुम भी आत्मा ही हो। इसलिये तुम खुद ही विचारो कि मैंने जीव होकर शरीर क्यों धारण किया ? परन्तु यदि तुम अपने को आत्मा मानने को तय्यार नहीं हो, अपने से भिन्न परमात्मा अथवा परमेश्वर मानते हो, तो उसके पास जाकर पूछो कि तुम ये बखेड़े क्यों करते हो ? यदि कोई आलसी पुरुष एक कार्य कुशल राजा के विषय में यह शङ्का करे कि राजा होकर वह कामकाज तथा खेल-कसरत आदि क्यों करता है, तो वह या तो राजा के समीप पहुंच कर पूछे या जिन लोगों की पहुंच राजा तक है,

उनके कहने पर विश्वास करे। घर में बैठे हुए शङ्काएं करते रहने से समाधान नहीं हो सकता।

गोपाल—आप तो अपने को आत्मा मानते हैं। आप ही बताइये कि आप यह बखेड़े क्यों करते हैं?

पिता—क्योंकि मेरी ऐसी इच्छा है। मैं अपनी मरजी का मालिक हूं। यह खेल करना मुझे पसन्द है। मुझे इसमें कोई दुःख या बन्धन प्रतीत नहीं होता। दुःख और सुख दोनों का जोड़ा है। जहां दुःख है, वहां सुख भी होता है और जहां सुख है वहां दुःख भी होता है। इसी तरह बन्धन और मोक्ष का भी जोड़ा है। मैं आत्मा (बन्धन और मोक्ष) दोनों में इ लिये ये दोनों विरोधी भाव मुझ में एकत्र होकर आपस में कट कर सम एवं शान्त होजाते हैं। दोनों में से एक का भी स्वातन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। जब कि सब कुछ मैं ही हूं, तो सुख और दुःख मुझ से पृथक् कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती, जो मुझे बाधा दें। वास्तव में जीव भाव अथवा शरीर भाव साधारण अज्ञानी लोगों को भी केवल दुःख दायक प्रतीत नहीं होते। यदि ऐसा होता, तो कोई जीवित रहने की इच्छा ही नहीं करता। परन्तु कोई गरीब से गरीब एवं दुःखी से दुःखी मनुष्य और पशु पंछी भी मरना नहीं चाहता। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ में शरीर और संसार को कोई भी दुःख रूप नहीं समझता। सच पूछो तो वह केवल दुःख रूप हैं भी नहीं। मूर्खता से ही लोग ऐसा कहते हैं।

---

## पाठ ३४

### एकता और समता के ज्ञान से व्यवहार कैसे हो सकता है?

गोपाल—जब सब में एकता और समता का ही अनुभव किया जाय, तो संसार के सभी व्यवहार बन्द हो जायँगे। मनुष्य और पशु,

स्त्री और पुरुष, माता और पत्नी, शत्रु और मित्र, अपने और पराये, ऊँच और नीच, भले और बुरे के साथ एकता और समता का व्यवहार बन ही नहीं सकता।

पिता—एकता और समता के ज्ञान ही से सँसार के व्यवहार अच्छी तरह होते हैं। अनेकता और विषमता के ज्ञान से तो सब व्यवहार बिगड़ते हैं, जैसे कि वर्तमान समय में बिगड़ रहे हैं। जैसे एक ही शरीर के जुदे जुदे अङ्ग होते हैं,-कई मन बुद्धि आदि सूक्ष्म, कई हाथ पांव आदि स्थूल, कई आँख, नाक आदि उत्तम पवित्र और प्रगट, कई इन्द्रिय-गुदा आदि कनिष्ठ, मलिन और गुप्त; कई जीभ, त्वचा आदि कोमल; कई दाँत, नख आदि कठोर; ऐसे ही भिन्न भिन्न गुणों वाले अनेक अङ्ग होते हैं। इन जुदे जुदे अङ्गों के अलग अलग व्यवहार होते हैं और उनके आपस में व्यवहार करने के भिन्न भिन्न प्रकार होते हैं, परन्तु वे सब एक ही शरीर के अनेक अङ्ग होते हैं और सब एक ही समान आवश्यक और उपयोगी होते हैं। सब में चेतना एक ही है। सभी अङ्गों के दुःख-सुख सारे शरीर को एक समान प्रतीत होते हैं। यदि सब अङ्गों की एकता का ज्ञान न हो, तो शरीर के सारे व्यवहार ही बिगड़ जाँय। इसी तरह संसार में जो अनेक शरीर हैं, वे आपस में एकता और समता के ज्ञानपूर्वक अपने अपने शरीर की योग्यता के व्यवहार एक दूसरे से सहयोग रखते हुए करें, और एक दूसरे शरीर के साथ आपस के सम्बन्ध के अनुसार बर्ताव करें, तभी सँसार के व्यवहार अच्छी तरह चल सकते हैं। प्रत्येक शरीर को वस्तुतः अलग अलग जान कर व्यवहार करने से व्यक्तित्व का अहङ्कार बढ़ता है और व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये एक दूसरे के साथ खींचा-तानी, राग-द्वेष, घृणा-तिरस्कार आदि के भाव होते हैं। इसी से सँसार दुःख रूप बन जाता है। सँसार में जितने प्राणी हैं सब के शरीर उन्हीं पञ्च भूतों के होते हैं और आत्मा सब में एक है ही। भेद केवल सत्व, रज और तम गुणों की कमीबेशी से होता है। गुणों की वह कमीबेशी सदा

एकसी नहीं रहती। कभी किसी गुण की विशेषता होती है, कभी किसी की। ( देखो गीता अध्याय १४ का श्लोक १०)। इसी लिये जो शरीर ऊँचा होता है, वह कभी नीचे भी गिर जाता है। जो नीचे जाता है, वह कभी ऊंचा भी चढ़ जाता है। कभी श्रेष्ठ से दुष्ट और दुष्ट से श्रेष्ठ हो जाता है। जो पदार्थ कभी सुख देता है, वह ही कभी दुःख देता है और जो दुःखदायक होता है, वही सुखदायक भी बन जाता है। जो शत्रु होता है, वह कभी मित्र भी बन जाता है और मित्र कभी शत्रु का रूप धारण कर लेता है। सारांश यह कि भेद सभी अस्थायी होते हैं। इस लिये नाना प्रकार के भेदों को झूठा और सब की एकता को सच्चा मान कर जिसकी जैसी योग्यता हो और जिसके साथ जैसा सम्बन्ध हो उसके साथ उसी के अनुसार आचरण करना ही समता का व्यवहार है।

# पाठ ३५

## समदर्शन का खुलासा

गोपाल—पिताजी, पांचवें अध्याय के अट्ठारहवें श्लोक में 'समदर्शन' शब्द है। इसी तरह और स्थानों पर 'समपश्यन्' शब्द है। इससे तो सब में एक समान आत्मा देखना पाया जाता है। समता का व्यवहार नहीं पाया जाता।

पिता—आत्मा देखने का तो विषय ही नहीं है। और न आंखों से सब में समता दीख सकती है। यहाँ 'दर्शन' और 'पश्यन्' शब्दों का अर्थ जानना है और जिसको जैसा जाना जाता है, उसके साथ वैसा ही आचरण किया जाता है।

गोपाल—आज कल अपने को धर्मात्मा मानने वाले जो रूढ़िवादी लोग नीच जाति के स्त्री-पुरुषों के साथ घृणा, तिरस्कार और छूत-भाव

का बर्ताव करते हैं वे इन श्लोकों से "समता देखना" अर्थ निकालते हैं।

पिता—गोपाल यह उन लोगों की हठ धर्मी है। मैं पहिले ही कह आया कि संसार में वस्तुतः कोई ऊँचा-नीचा अथवा छूत-अछूत नहीं है। मनुष्यों के गुणों के अनुसार काम करने के पेशे बनाये गये हैं। जिस गुण की जिस में प्रधानता हो, उसे वही पेशा करना चाहिये। गुणों के अनुसार ही रहन-सहन तथा खान-पान होना स्वाभाविक है। पेशा कोई ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। समाज की सुव्यवस्था के लिये सभी पेशे आवश्यक हैं। इस लिये किसी भी पेशे को हीन समझ कर पेशे करने वाले के साथ घृणा अथवा उसका तिरस्कार करने का अधिकार किसी को नहीं (देखो गीता अध्याय ३ का श्लोक ३५), यद्यपि मनुष्यों के खान-पान रहन-सहन आदि उनके गुणों की योग्यता के अनुसार होते हैं। सात्विक प्रकृति के लोगों के लिये हलका व सूक्ष्म भोजन तथा कोमल वस्त्र आदि उपयुक्त होते हैं। तामसी प्रकृति के लोगों के लिये मोटा खाना तथा मोटा वस्त्र पहिनना उपयुक्त होता है। परन्तु शुद्ध भोजन, स्वच्छ जल तथा खुली वायु और रहने के लिये सुरक्षित स्थान आदि साधारण जीवन के लिये उपयोगी सामान सब ही के लिये एक समान आवश्यक होते हैं। ठीक इसी प्रकार अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करने का मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र को एक समान अधिकार है। इनके लिये सब को एक समान सुविधाएं रहनी चाहियें। किसी को हीन अथवा निर्बल समझ कर इन अधिकारों पर रुकावट नहीं होनी चाहिये।

गोपाल—पिताजी, वर्तमान समय में ऊँच जाति के अधिकार प्राप्त लोग हीन जाति के गरीबों को इन अधिकारों से वञ्चित रखते हैं और उन पर बहुत से अत्याचार करते हैं, यहाँ तक कि मनुष्योचित बर्ताव भी उनके साथ नहीं करते।

पिता—गोपाल, ऐसे लोग केवल हीन जाति के लोगों पर ही अत्याचार नहीं करते, वरन् स्वयं अपनी स्त्रियों पर भी इतने जुल्म करते

हैं कि उन्हों ने उनको भी मनुष्यता के प्रायः सभी अधिकारों से वंचित कर रक्खा है। इसी से तो इस देश की इतनी अधोगति हुई है।

गोपाल—गरीबों पर अत्याचार करने में तो इस समय का सभ्य समाज भी कुछ कम नहीं उतरता।

पिता—पुराने विचार के लोग धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण गरीबों पर अत्याचार करते हैं और नई रोशनी के सभ्य लोग अपने शारीरिक सुखों तथा मनोविनोद के लिये गरीबों को सताते और पशु पक्षियों को कष्ट देते हैं। उन लोगों को दूसरों के कष्ट का अनुभव ही नही होता। केवल अपने भोग विलास ही से मतलब रखते हैं।

---

# पाठ २६

## आहार

गोपाल—पिता जी, गीता में भोजन के जो तीन भेद किये गये हैं, क्या उनका यह तात्पर्य है कि सात्विक प्रकृतिके लोग सात्विक भोजन करें, राजस और तामस प्रकृति के लोग राजस और तामसभोजन करें?

पिता—नहीं ऐसा विधान नहीं है। सात्विक, राजस और तामस प्रकृति के लोगों को जो जो भोजन प्यारे लगते हैं, उनका वर्णन है। अपनी उन्नति चाहने वालोंका सात्विक भोजन ही करना चाहिये, क्योंकि भोजन का प्रभाव मनुष्य के मन और बुद्धि पर पड़ता है। सात्विक भोजन करने वालों के मन और बुद्धि सात्विक होते हैं, जिनसे उनकी उन्नति होती है। सत्व गुण ऊंचा उठाने वाला है। (देखो गीता अध्याय १४ का श्लोक १८)

---

## पाठ ३७

### क्या मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों को बदल सकता है?

गोपाल—क्या मनुष्य अपने स्वाभाविक गुणों को बदल सकता है?

पिता—गुण ऐसे स्वाभाविक नहीं होते कि जन्मभर उन को बदला ही न जासके। सात्विक भोजन तथा सात्विक आचरणों से मनुष्य रजोगुण व तमो गुण को दबा कर सत्व गुण की वृद्धि कर सकता है। इसके विपरीत खानपान और आचरणों से रजोगुण व तमो-गुण को बढ़ा सकता है।

गोपाल—क्या गीता में मांस खाने का निषेध है?

पिता—गीता में खाद्य पदार्थों के नाम से भोजन के भेद नहीं किये गये हैं। पदार्थों के गुणों से ही उनके सात्विक, राजस और तामस भेदों का व्याख्या की गई हैं। गीता एक सार्वजनिक शास्त्र है। इस लिये यह मांसाहारियों तथा शाकाहारियों सब के लिये है। जो पदार्थ आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रेम बढ़ाने वाला हो, रसदार, चिकना, अधिक देर तक आधार देने वाला और दिल को ताकत देने वाला हो, उसे सात्विक माना है। इनके विपरीत गुणों वाला राजस और तामस माना गया है।

## पाठ ३८

### साम्य-भाव के आचरण का खुलासा

गोपाल—सबकी एकता के ज्ञानयुक्त साम्य-भाव के आचरण करने वाले ज्ञानी पुरुषों को सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सोना-मिट्टी, अनुकूल-प्रतिकूल, शत्रु-मित्र, अपने-

पराये, अच्छे-बुरे आदि में सम रहने के लिये गीता में जगह जगह लिखा गया है। तो क्या उसको इन विरोधी भावों में कोई भेद नहीं दीखता ? क्या वह सबके साथ एकसा ही प्रेम का बर्ताव करता है ?

पिता—आत्म-ज्ञानी समत्व योगी ऐसा संज्ञाहीन अथवा कोई पत्थर का पुतला नहीं हो जाता कि जिसको जगत् के नाना प्रकार के बनावों की विचित्रता प्रतीत ही न हो। वह तो आत्म-ज्ञान और दृश्य पदार्थों के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है। इसलिये उसे जगत् की इन भिन्नताओं का उतना ज्ञान होता है, जितना कि साधारण लोगों को होना सम्भव ही नहीं है, परन्तु साधारण लोग इन भिन्नताओं के केवल बाहरी रूपों का इन्द्रिय जन्य ज्ञान रखते हैं। इसलिये उनमें आसक्त और विक्षिप्त रहते हैं। आत्म-ज्ञानी समत्व योगी इन भिन्नताओं के बाहरी रूपों के इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही पर निर्भर नहीं रहता, किन्तु इनके भिन्न भिन्न गुणों, अलग अलग योग्यताओं और इनके सूक्ष्म कारणों सहित इन के भीतरी असलियत अर्थात् सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ ज्ञान रखता है। इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान युक्त सब प्रकार के सांसारिक-व्यवहार करता हुआ भी वह किसीमें आसक्ति नहीं रखता। यद्यपि वह शरीर रूप से ठंढे और गर्म, सुख और दुख, मान और अपमान, अनुकूल और प्रतिकूल, अच्छे और बुरे आदि द्वन्दों की वेदनाऐं उसी तरह अनुभव करता है, जिस तरह कि दूसरे करते हैं। परन्तु उसकी बुद्धि में यह निश्चय रहता है कि अनुभव करने वाला और किया जाने वाला वस्तुतः एक ही हैं। पृथक्ता के बनाव सदा बदलते रहते हैं, इसलिये वे कल्पित हैं। किसी अवस्था में सुख और मान आदि अहितकर होते हैं और किसी अवस्था में दुःख और अपमान आदि हितकर होते हैं। इसलिये उसके अन्तःकरण में अनुकूल प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव होता हुआ भी वह उनसे प्रभावित नहीं होता। सोने और मिट्टी के उपयोग के भेद की दृष्टि से वह उनके भेद को अनुभव करता है, परन्तु वह उनको एक समान खनिज पदार्थ सम-

भता है। उनके भी उपयोग और मूल्यादि सदा एक से नहीं रहते। किसी अवस्था में सोने का कोई उपयोग नहीं होता और उसका संग्रह दुःखदायी होता है और मिट्टी बड़ी उपयोगी होती है। इसलिये इनकी उपयोगिता के भेद का अनुभव करता हुआ भी वह उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति में हर्ष या विषाद नहीं करता। मित्रों के साथ उनकी भावना के अनुसार वह मैत्री का बर्ताव करता है। शत्रुओं के साथ उनकी भावना के अनुसार शत्रुता का बर्ताव करता है। बन्धु-जनों के साथ प्यार और सहानुभूति का, आत्मीय जनों के साथ घनिष्ठता तथा प्रीति का, सज्जनों के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का और शठों के साथ उनके अनुकूल शठता का बर्ताव करता है; परन्तु वे बर्ताव उन भिन्न भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फलस्वरूप उनके स्वभाव तथा भावनाओं के अनुसार स्वतः ही होते हैं। इस विषय में उन लोगों की भावनाएं भिन्न भिन्न प्रकार के बर्ताव का कारण होती हैं। समत्व-योगी अपनी तरफ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा बर्ताव नहीं करता। उसके अन्तःकरण में न किसी से राग रहता है न द्वेष और न उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ ही होता है। इस लिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का बर्ताव करता है, तब भी वह उसके तथा सबके हित के लिये ही होता है। द्वेष वश किसी की हानि करने के लिए नहीं। इसी प्रकार समत्व योगी भिन्न भिन्न प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता हुआ तथा भिन्न भिन्न लोगों के साथ उनके अनुकूल भिन्न भिन्न प्रकार के बर्ताव करता हुआ भी अन्तःकरण में सम और शान्त बना रहता है।

## पाठ ३९

### कर्मों के फल और उनके अच्छे बुरेपन का खुलासा

गोपाल—पिताजी, आप कहते हैं कि समत्व योगी मित्र के

साथ मित्रता का, शत्रु के साथ शत्रुता का, सज्जन के साथ सज्जनता का और शठ के साथ शठता का बर्ताव करता है। कर्म विपाक के सिद्धान्त के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों का फल अवश्य होना चाहिए। फिर समत्व योगी जब शत्रु के साथ शत्रुता का और शठ के साथ शठता का बर्ताव करता है तो उन बुरे कर्मों का फल भी उसे भोगना चाहिए।

पिता—आठवें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा है कि (भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः) अर्थात जगत की रचना सब कर्म रूप है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव और उनकी गति इतनी व्यापक और गहन है कि किसी भी कर्म के अच्छे बुरे फल का निर्णय भेद भाव की संकुचित दृष्टि से नहीं हो सकता (देखो गीता अध्याय ४ के श्लोक १६ व १७)। साधारणतया कर्म में अच्छापन या बुरापन कुछ भी नहीं होता। अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निर्भर है। जो सब की एकता के ज्ञानयुक्त अपने शरीर की योग्यतानुसार जगत के व्यवहार लोकसंग्रह के लिए यानी सब के हित के लिए करते हैं, उनके कर्म अच्छे हैं और जो पृथकता के भाव से अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार से दूसरों के स्वार्थों का तिरस्कार करके केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए कर्म करते हैं, उनके कर्म बुरे होते हैं (देखो गीता अ० ४ के श्लोक १८ से २४)। सब की एकता के ज्ञानयुक्त अपनी अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म यदि हिंसात्मक और क्रूर भी हों, तो भी बुरे नहीं होते (देखो गीता अ० १८ का श्लोक १७)। पृथकता के भाव से केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जाने वाले कर्म यदि अहिंसात्मक और सौम्य भी हों, तो भी वे वास्तव में अच्छे नहीं होते।

गोपाल—प्रेम, सत्य, अहिंसा, क्षमा, सरलता, दया आदि सदाचारों को गीता में अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ गुण कहा है। काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, क्रूरता, शोक, भय आदि दुराचारों को दुर्गुण और त्यागने

योग कहा है। इसका क्या यह मतलब नहीं कि यह सदाचार सदा ही अच्छे और दुराचार सदा ही बुरे होते होंगे?

पिता—मैंने पहिले ही कह दिया है कि अच्छापन और बुरापन कर्त्ता के भाव से उत्पन्न होता है। प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठ गुणों के आचरण भी सब की एकता के ज्ञान युक्त सब के हित के लिए किये जांय, तभी वह सदाचार होता है। यदि यही आचरण पृथकता के भावों से व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जांय, तो ये दुराचार में परिणत हो जाते हैं। इसी लिए गीता में इन आचरणों के विधान के साथ ही साथ अहङ्कार और ममता के त्याग का विधान किया गया है और साथ ही बुद्धि में समता रखने को कहा गया है अर्थात् ये आचरण करने में बुद्धि को साम्य भाव में स्थित रखना चाहिये। यह बात अवश्य है कि प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठ गुणों के आचरणों से व्यक्तित्व के भाव में कमी होती है और एकता के भाव की वृद्धि होती है। इसी लिए इनकी सदाचार संज्ञा रक्खी गई है। परन्तु इनके भी अपवाद होते हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब इन आचरणों से अनर्थ हो जाते हैं और कई अवसर ऐसे भी आते हैं, जब एक श्रेष्ठ गुण के आचरण करने में दूसरे श्रेष्ठ गुण की हानि होती है। जैसे कभी सत्य के लिए हिंसा करना आवश्यक हो जाता है और कभी अहिंसा पालन के लिये झूठ बोलना और कपट करना आवश्यक होजाता है, इसी तरह काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों के आचरण से पृथकता के भाव बढ़ते हैं, इसलिए साधारणतया ये दुराचार माने जाते हैं परन्तु जब इन्हीं भावों का आचरण सब की एकता के ज्ञान युक्त लोक हित के लिए किया जाता है, तब ये ही सदाचार में परिणत हो जाते हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब लोक हित के लिए इन भावों के आचरण की भी आवश्यकता होती है। संसार में निरर्थक पदार्थ कोई भी नहीं है। सब की अपने अपने स्थान में आवश्यकता होती है। प्रत्येक पदार्थ का सदुपयोग करने से वह अच्छा होता है, किन्तु दुरुपयोग करने से वही बुरा हो जाता है। सदुपयोग करने से विष भी,

अमृत का काम देता है और दुरुपयोग करने से अमृत भी जहर हो जाता है।

गोपाल—पिता जी, आपने कर्मों के अच्छे बुरेपन की और सदाचार-दुराचार के विषय की जो यह संक्षिप्त व्याख्या की है, यह तो गीता की किसी भी टीका में देखने को नहीं आई।

पिता—तुमने लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक कृत 'गीता रहस्य और कर्मयोग शास्त्र" नहीं देखा होगा। यदि उसे देखते तो इस विषय का विवेचन अच्छी तरह ध्यान में आजाता और उससे भी अधिक विस्तृत और सरल विवेचन श्री रामगोपाल मोहता लिखित "गीता का व्यवहार दर्शन" ग्रन्थ में किया गया है, जो हाल ही में प्रकाशित हुआ है। जो जो बातें मैंने गीता के सम्बन्ध में तुमको कही हैं, उन सबको तुम उसमें विस्तार से पाओगे।

# पाठ ४०

## दैवी आसुरी सम्पति

## देव और असुर कौन हैं ?

गोपाल—पिता जी, सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का जो वर्णन किया गया है, वे देव और असुर कौन हैं ?

पिता—देवों और असुरों के कोई अलग लोक नहीं हैं, न उनकी कोई अलग जाति ही होती है और न वे साधारण मनुष्यों से विलक्षण रूपों वाले होते हैं। इसी मनुष्य समाज में हम लोगों में से ही कई देव और असुर होते हैं। दैवी सम्पत्ति के गुण जिनमें अधिक होते हैं, वे देव हैं और आसुरी सम्पत्ति के गुण जिनमें अधिक होते हैं, वे असुर हैं।

गोपाल—राक्षस कौन होते हैं?

पिता—हम लोगों में से ही जो अत्यन्त उग्र आसुरी प्रकृति के लोग हैं, वे राक्षस हैं।

गोपाल—पिता जी! यह आप क्या कहते हैं? क्या हम लोग ही राक्षस और असुर हैं? हम तो बड़े आस्तिक और धर्मात्मा हैं।

पिता—कहने को तो हम लोग बड़े आस्तिक और धर्मात्मा हैं, परन्तु वास्तव में हम ऐसे नहीं हैं। यदि हम लोग आस्तिक और धर्मात्मा होते और ईश्वर तथा परलोक में विश्वास रखते, तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों पर इतने अत्याचार नहीं करते। हम लोगों में से जो धर्म का व्यवसाय करने वाले गुरु, पुरोहित, आचार्य, साधु, महन्त, पण्डे, पुजारी आदि धर्म के ठेकेदार हैं, वे प्रायः अपने यजमानों और शिष्यों को अज्ञानान्धकार में अपने अधीन रख, पुरुषार्थ हीन तथा स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य बना, उनसे कितना धन ऐंठते हैं, किस तरह अपनी सेवाएँ करवाते हैं और मृत्यु आदि शोक के अवसरों पर भी कितनी निर्दयता से लोगों से अपने धर्म का टैक्स वसूल करते हैं? क्या ईश्वर को मानते, तो वे इस तरह अत्याचार कर सकते? वे लोग जनता को यह चकमा दिखाकर दान लेते हैं कि परलोक में उससे कई गुना अधिक उनको पीछे मिल जायगा। यदि वे खुद परलोक में विश्वास रखते तो इतना कर्जा परलोक में पीछे देने के लिये अपने सिर पर कहीं कभी नहीं उठाते। जो राज्य शासन के ठेकेदार हैं, उन में से अधिकांश लोग अपनी निरङ्कुश राजसत्ता के कारण लोगों पर कितना जुल्म करते हैं और जो धन के ठेकेदार हैं वे अपने धन के जोर से लोगों को कितना सताते और दबाते हैं? इसी तरह जो समाज के ठेकेदार पञ्च लोग हैं, वे अपने अपने समाज के जाति भाइयों पर कितना आतङ्क जमाए रखते हैं और सामाजिक बन्धनों में बाँध कर शादी तथा गमी के अवसरों पर लोगों को कितना तङ्ग करते हैं? यदि ये लोग ईश्वर तथा धर्म को मानते और परलोक में विश्वास रखते तो

इतने अत्याचार कभी नहीं करते। हम साधारण लोग भी अपनी ही स्त्रियों को इतना पद दलित रखते हैं कि उन्हें मनुष्यता के सारे ही अधिकारों से वञ्चित और पशु पक्षियों से भी गई गुजरी स्थिति में रखते हैं। अछूत माने जाने वाले गरीब भाइयों के साथ भी इतना घृणित बर्ताव करते हैं कि उनको छूना भी पाप समझते हैं। और उनको इतना दबाए रखते हैं कि वे मानो मनुष्य ही नहीं। यह सब आसुरीपन नहीं तो क्या है ?

गोपाल—पिता जी ! आपका कहना ठीक है। वर्तमान समय में हम लोगों के आचरण वास्तव में राक्षसों और असुरों के जैसे ही हो रहे हैं। इसी से हमारी इतनी दुर्गति होगई है। अब मुझे यह निश्चय होगया कि गीता के विषय में जो मेरे विचार थे, वे बिलकुल ग़लत थे। वास्तव में गीता के अर्थ को यथार्थ रूप से समझ कर उसके अनुसार आचरण करने से ही मनुष्य सच्चा मनुष्य हो सकता है और तभी वह सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है।

# पाठ ४१

## काम करने में कुशलता कैसे प्राप्त हो ?

गोपाल—अब पिता जी, मुझे यह बताइये कि गीता के अनुसार मनुष्य पूर्ण कार्य कुशल कैसे हो सकता है ?

पिता—देखो गोपाल, जो मनुष्य ( स्त्री पुरुष ) सबकी एकता के सात्विक ज्ञानयुक्त ( गीता अध्याय १८ श्लोक २० ) यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि ( गीता अध्याय १८ श्लोक ३० ) और सभी व्यवहार यथायोग्य साम्य-भाव से धारण करने वाली सात्विक धृति से ( गीता अ० १८ श्लोक ३३ ) अपने अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म,

धैर्य, उत्साह, तत्परता, फुरती और चतुराई के साथ अच्छी तरह मन लगाकर, प्रसन्नता और विचार-पूर्वक व्यवस्थित रूप से करता है और कार्य आरम्भ करने के पहिले इन बातों पर अच्छी तरह विचार कर लेता है कि इस कार्य के सम्पादन करने में कितना परिश्रम होगा, कितने द्रव्य का व्यय होगा, कितना कष्ट होगा, मुझ में इतनी शक्ति तथा योग्यता है कि नहीं, जो अपने कामों से केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए दूसरों को हानि नहीं करता तथा दूसरों को पीड़ा नहीं देता, किसी विशेष कार्य पद्धति ही में अत्यन्त आसक्ति नहीं रखता किन्तु परिस्थिति के अनुसार उसमें फेरफार करता रहता है, अपनी बुद्धिमत्ता तथा होशियारी के अभिमान में ऐंठा नहीं रहता, दूसरों की सम्मतियों का भी यथायोग्य आदर करता है, कार्य की सफलता में फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता और असफलता में हताश नहीं होता, वह पूरी तरह कार्य कुशल होता है। कार्य कुशल पुरुष ही वास्तव में सुखी हो सकते हैं। इसके विपरीत रीति से कार्य करने वाले सुखी नहीं हो सकते ।

## पाठ ४२

### सच्चा सुख क्या है ?

गोपाल—तो फिर पिता जी, सच्चे सुख का क्या स्वरूप है ?

पिता—शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं--आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, आधिभौतिक अवस्था स्थूल शरीर की जागृत अवस्था है, आधिदैविक अवस्था मानसिक संकल्पों की स्वप्न अवस्था है और आध्यात्मिक अवस्था इन दोनों से परे सुषुप्ति अवस्था है, जिस में कुछ काल के लिये जागृत और स्वप्न के संकल्प मिट जाते हैं। इन तीनों अवस्थाओं के अलग अलग प्रकार के सुख होते हैं। जागृत अवस्था में

स्थूल शरीर के भौतिक सुख होते हैं। स्वप्न अवस्था में मानसिक सूक्ष्म सुख होते हैं और सुषुप्त अवस्था में जागृत और स्वप्न के भेद मिटने का अवर्णनीय सुख होता है। लेकिन, ये तीनों सुख सच्चे नहीं हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं रहते और इनके पहिले तथा पीछे दुःख होता है। सच्चा सुख वह है, जो तीनों ही अवस्थाओं में एकता बना रहे और वह सुख आत्म ज्ञान से होता है। अर्थात् सब की एकता की साम्य-बुद्धि से ही सच्चा सुख होता है। जब तक बुद्धि में सब की एकता का साम्य-भाव नहीं होता, तब तक शरीर के भोग विलास के भौतिक सुख चाहे कितने ही हों, मन के विनोद के चाहे कितने ही साधन हों और चाहे मनुष्य सब से अलग होकर एकान्त में रहे अथवा सदा नींद लेता रहे, सच्चा सुख नहीं होता। इन तीनों प्रकार के सुखों के साथ ही साथ इनकी प्रतिक्रिया रूप दुःख लगे ही रहते हैं। इसी लिये गीता में आधिभौतिकता, आधिदैविकता और आध्यात्मिकता तीनों को स्थान देकर फिर तीनों की एकता कर दी गई है। (देखो गीता अध्याय ८ श्लोक ३-४)। न कोरी आधिभौतिकता में सुख है, न कोरी आधिदैविकता में और न कोरी आध्यात्मिकता में। इनको अलग अलग रखने से तीनों ही से पतन होता है। गीता ने इन तीनों का सामञ्जस्य करके तीनों प्रकार की उन्नति साथ साथ करने का उपदेश दिया है। इस त्रिविध उन्नति के उपदेश को ज्ञान-विज्ञान नाम दिया है, जिसका तात्पर्य आधिभौतिक और आधिदैविक विज्ञान के साथ साथ आध्यात्मिक ज्ञान होता है।

गोपाल—सुख की यह व्यवस्था तो खास शरीर की हुई। इससे सारे समाज अथवा जगत् के सुख की व्यवस्था कैसे होगी?

पिता—जो व्यवस्था प्रत्येक शरीर की है; वही सारे समाज और जगत की है। शरीरों से ही समाज और जगत बनता है। प्रत्येक शरीर जिसे व्यष्टि कहते हैं, वह सारे समाज तथा जगत् के लिये है और सारा समाज एवं जगत् जिसे समष्टि कहते हैं, वह प्रत्येक शरीर

अथवा व्यष्टि के लिये है । व्यष्टि और समष्टि में वास्तव में कोई भेद नहीं है । जिस तरह प्रत्येक शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी तरह जगत् की भी आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीन अवस्थाएं हैं और तीनों प्रकार की उन्नति साथ साथ होने ही से समाज तथा जगत् में सुख शान्ति हो सकती है ।

## पाठ ४३

### सुख और हित का भेद

गोपाल—बहुत से विद्वानों का मत है कि सब लोग तो सुखी हो ही नहीं सकते, इस लिये अधिक लोगों का अधिक सुख ही सब से उत्तम और व्यवहार में आने लायक सिद्धान्त है ।

पिता—अधिक लोगों के अधिक सुख का सिद्धान्त दोष पूर्ण है । प्रथम तो अधिक लोगों का और उन के अधिक सुख का निर्णय होना ही असम्भव है । सब देशों के सब लोगों की गणना करके किस को किस बात में कितना सुख है, इसका पता लगाना असम्भव है । सुख का कोई माप, तोल, अथवा मात्रा नहीं है । अनुकूलता सुख और प्रतिकूलता दुःख माना जाता है । किसी को किसी समय किसी विषय में अनुकूलता प्रतीत होती है, दूसरे को उसी में प्रतिकूलता प्रतीत होती है । कोई थोड़े ही सुख को बहुत मानता है और कोई बहुत सुख को तुच्छ मानता है । जो वर्तमान में सुख होता है वह भविष्य में लोगों के लिये दुःख हो सकता है । इस लिये यह सिद्धान्त ठीक नहीं है । गीता ने इसी लिये उसको नहीं मान कर "सर्वभूतहिते रतः" का सिद्धान्त माना है । जो आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सुखों का वर्णन पहिले किया है, उनके पहिले और परिणाम में दुःख होता है । वर्तमान में भी एक दूसरे की बढ़ाचढ़ी की जलन रहती है, परन्तु सब के हित में यह दोष नहीं है । हित तो सदा-सर्वदा सुखदायक होता है, परन्तु सुख सदा-सर्वदा हितकारक नहीं होता । ( "गीता का व्यवहार दर्शन" में पाँचवे अध्याय का स्पष्टीकरण देखिये ।)

# पाठ ४४

## आत्मौपम्य बुद्धि

गोपाल—सब भूतों के हित में लगे रहना कैसे बन सकता है ?

पिता—आत्मौपम्य बुद्धि से सब के साथ पहिले कहे अनुसार समता का बरताव करने से सब का हित होता है। किसी भी प्राणी से बरताव करते समय अपने आपको उसकी स्थिति में रख कर फिर उसके हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि की वेदनाओं का अनुमान करते हुए यह विचारना कि यदि मैं इसकी स्थिति में होता और मेरे साथ इस तरह बरताव किया जाता, तो मुझे यह कैसा लगता? उस बरताव का वर्तमान में और भविष्य में मुझपर क्या प्रभाव पड़ता। इस तरह आत्मौपम्य-बुद्धि द्वारा विचारपूर्वक सब के साथ समता का बर्ताव करने से किसी का अहित नहीं होता, किन्तु हित ही होता है, जिसका कोई बुरा परिणाम नहीं होता।

---

# पाठ ४५

## गीता की श्रेष्ठता

गोपाल—संसार में व्यवहार करने का इससे उत्तम मार्ग दूसरा नहीं हो सकता।

पिता—तभी तो, गोपाल, गीता का पद सब शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थों से ऊंचा माना गया है। जहां दूसरी संस्कृतियां और दूसरे मत ईश्वर को पिता अथवा स्वामी बताते हैं, और जीवों को पुत्र अथवा दास बताते हैं तथा सब जीवों को आपस में भाई बता कर प्रेम करने की कहते हैं, वहां गीता कहती है कि सब कुछ तुम्हारा ही स्वरूप है। सब को अपने से अभिन्न अपने शरीर के अनेक अंग समझ कर एकता

के प्रेम युक्त साम्य भाव का बरताव करो। पिता-पुत्र में अथवा स्वामी सेवक में अथवा भाई भाई में तो वैमनस्य अथवा द्वेष भी हो जाया करते हैं, परन्तु अपने आपके साथ कभी द्वेष नहीं होता। इस सिद्धान्त से उत्तम तो क्या इसके बराबरी का सिद्धान्त भी दूसरा नहीं हो सकता। किसी भी संस्कृति अथवा मत की यह कहने की हिम्मत नहीं है कि "सब कुछ तुम्हारा ही स्वरूप है।" यह गीता अथवा वेदान्त का ही साहस है कि वह डंके की चोट कहता है कि सब को अपने में और अपने को सब में अनुभव करो(देखो गीता अ० ६ श्लोक २६)इसी लिये इसको सार्वजनिक राज विद्या कहा है, जिस पर किसी भी प्रकार के भेद बिना सब को एक समान अधिकार है और वह सब के लिये एक समान उपयोगी और हित का है। साथ ही यही विद्या बहुत ही आसान है, क्योंकि इस के आचरण करने में न तो धन अथवा शक्ति खर्च करके किसी प्रकार के आडम्बर करने की आवश्यकता रहती है और न किसी दूसरे की सहायता पर निर्भर रहना होता है। यह विद्या तुरन्त फल देने वाली है, क्योंकि मनुष्य जिस समय सब की एकता के भाव से आचरण करने लगता है, उसी समय वह सुखी और उन्नत होने लगता है। अनेकता के आचरणों ही से दुःख और गिरावट होती है। दूसरे जितने भी धार्मिक कृत्य हैं, उनका फल पीछे अथवा मरने के बाद बताया जाता है, परन्तु यह तो नक़द सौदा है। इसके सिवाय इसमें एक और विशेषता यह है कि इसका थोड़ा भी आचरण कभी निरर्थक नहीं जाता। जहां दूसरे धार्मिक कृत्यों की पूर्णता होने पर ही उस का फल बताया जाता है, वहाँ इस मार्ग में जितने लोगों के साथ जितने दर्जे की एकता का बरताव किया जाता है, उतना ही सुख और उन्नति उसी समय प्राप्त हो जाती है और इस रास्ते में लगा हुआ मनुष्य आगे बढ़ता रहता है। (देखो गीता अ० ६ श्लोक २)। यदि इसमें लगे हुए मनुष्य का शरीर पूर्णता प्राप्त किये बिना ही बरत जाय, तो वह अपने इस जन्म के संस्कारों के प्रभाव से दूसरे जन्ममें ऐसे घर

में जन्म लेता है, जहां उसको इसमें आगे बढ़ने की सब सुविधाएँ रहती हैं। वहां वह उन्नति करता रहता है और समय पाकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है। (देखो गीता अ० श्लोक ४० से ४५ तक)।

## पाठ ४६

### गीता के समत्वयोग और पश्चिमी साम्यवाद की तुलना

गोपाल—वर्तमान में पश्चिमी देशों में जिस साम्यवाद का प्रचार होरहा है उसमें और गीता के समत्व योग में क्या फर्क है ?

पिता—वह आर्थिक साम्यवाद है। यानी पश्चिमी साम्यवाद सब के शरीर को एक बराबर समझ कर सब के भौतिक अधिकार और आर्थिक दृष्टि से भौतिक सुख एक समान करना चाहते हैं। सो हो नहीं सकता। इस त्रिगुणात्मक जगत् में गुणों की विचित्रता के अनुसार शरीरों की योग्यता भिन्न भिन्न प्रकार की होती है और अलग अलग योग्यता के अनुसार अलग अलग भौतिक अधिकार और भोग विलास ही उपयुक्त होते हैं। इस के सिवाय मनुष्यों के कर्मों के अनुसार ही उनके अधिकार और भोग विलास प्राप्त होनेका सिद्धान्त भी अटल है। गीता सब की वास्तविक एकता को सच्ची और गुण वैचित्र्य की अनेकता को कल्पित बता कर गुणों के अनुसार कार्य, अधिकार और भोग की आदि व्यवस्था करती है। इसलिये गीता के समत्व योग की नींव पक्की है। वह सब के लिये हित कर था सदा अटल रहने वाली है। आर्थिक साम्यवाद समता वास्तविक एकता को महत्व नहीं देता। वह भौतिक समानता अथवा बराबरी को महत्व देता है। इस लिये उससे लोगों का हित नहीं हो सकता और वह लम्बे समय तक टिक भी नहीं सकता।

# पाठ ४७

## पात्र के विना गीता का उपदेश क्यों नहीं देना चाहिये ?

गोपाल—जब गीता सार्वजनिक शास्त्र है, तो अठारहवें अध्याय के सतासठवें श्लोक में भगवान् ने यह क्यों कहा कि तप नहीं करने वाले को, भक्ति नहीं करने वाले को, सुनने की इच्छा नहीं रखने वाले को और मेरी निन्दा करने वाले को यह उपदेश मत देना। क्या इससे बहुत संकीर्णता और अपनी कमजोरी प्रगट नहीं होती ?

पिता—सत्तरहवें अध्याय में तीन प्रकार के सात्विक तप के नाम से जिस शिष्टाचार का वर्णन हुआ है, उससे जो मनुष्य रहित और बिलकुल उजड्ड हो और जिस की इस विषय में श्रद्धा ही न हो और जिसको सुनने की जिज्ञासा भी न हो और जो भगवान् श्रीकृष्ण के महत्व को न जान कर उनकी निन्दा करता हो, उसको यह उपदेश सुनाना निरर्थक ही नहीं, किन्तु उलटा हानिकारक हो सकता है, क्योंकि वह इसका उलटा अर्थ लगाकर अनर्थ कर बैठता है। इस लिये ऐसे लोगों को यह उपदेश सुनाना मना किया गया है। इसमें कोई संकीर्णता अथवा कमजोरी की बात नहीं। इस दिव्य उपदेश को सुनाने के पहिले मनुष्य को शिष्टाचार की शिक्षा देकर श्रद्धा और जिज्ञासा उत्पन्न करा कर तथा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति आदर उत्पन्न करके पात्रता पैदा करनी चाहिये। बस, यही उसका अभिप्राय है।

# पाठ ४८

## क्या गीता राजनैतिक चालबाजी है ?

गोपाल—आपका कहना बिल्कुल ठीक है जिन लोगों में "यह पात्रता नहीं है, वे लोग भगवान् श्रीकृष्ण को एक बड़ा [illegible] चालबाज,

कुटिल राजनीतिज्ञ कहते हैं " और गीता के उपदेश को कौरव-पाण्डवों को लड़ा कर लोगों को दबाने के लिये एक भारी चालबाजी बताते हैं।

पिता—मनुष्य की जैसी अपनी मनोवृत्ति होती है, उसी के अनुसार वह दूसरों को देखता है। वर्तमान समय में जिन लोगों का मन कुटिल राजनीति के दाव पेचों से प्रभावित होरहा है और जो लोग जिस किसी प्रकार से दूसरों को दबा कर या धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता समझते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण को भी एक बहुत बड़ा कुटिल राजनीतिज्ञ औरचालबाज आदमीब ताते हैं, । जो लोग स्वयं विषयों में आसक्त है, वे श्रीकृष्ण को बड़ा विषय लम्पट मानते हैं। इन लोगों की राजसी-तामसी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के सर्वात्मभाव के रहस्य को समझ नहीं सकती। सबकी एकता का अनुभव करने वाले आत्म-ज्ञानी महापुरुष, जो सर्वभूत प्राणियों के हित के लिये साम्य-भाव के आचरण करते है, वे अज्ञानी लोगों की भौतिक दृष्टि में बुरे प्रतीत होते हैं। निशाचरों को दिन में भी अन्धकार प्रतीत होता है। यह उनकी दृष्टि का दोष है। ( देखो गीता अध्याय २ श्लोक ६९ )। भगवान् श्रीकृष्ण ने लोक हित के लिये बहुत स अत्याचारी राजाओं को मारा परन्तु उन सबका राज्य उनके उत्तराधिकारियों को अथवा जो नीति-पूर्वक हकदार थे उनको दे दिया। आप किसी भी राज्य के राजा नहीं हुए, क्योंकि वे परिपूर्ण थे। राज सत्ता उनके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखती थी। ब्रज में गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का जो वर्णन हैं, वहां यह भी कहा गया है कि वे अपनी माया से अनेक कृष्ण और अनेक गोपियों के रूप में एक ही साथ प्रगट होजाया करते थे। सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के महल में एक ही साथ रहा करते थे। अब जरा विचारो कि जिसमें इतना अलौकिक शक्ति हो, उसे किसी के राज्य कीव तुच्छ विषय भोगों की इच्छा ही कैसे हो सकती है?

गोपाल—अनेक रूप धारण करने की बातों को तो वे लोग झूठे गपोड़े बताते हैं।

पिता—वे लोग भगवान् के उन कामों को तो सच्चा मानते हैं, जो उनकी अकल में आते हैं और जो उनकी अकल में नहीं आ सकते उन्हें झूठा मानते हैं। इसी से तो मैं कहता हूं कि जिनकी जैसी मनोवृत्ति होती है, उसी के अनुसार वे दूसरों के कामों की आलोचना करते हैं। जिसकी आंखों पर जैसा चश्मा चढ़ा होता है, उसे संसार उसी रङ्ग का दीखता है। चींटी अगर संगमरमर के राजमहल में जाती है, तो वहां भी सुराख तलाश करती है। इसी तरह दूषित मनोवृत्ति के लोग गीता जैसे अमृत के समुद्र में से भी कूट नीति की चालबाज़ियों के विष ही की तलाश करते हैं। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण जो अपने को सब भूतों में एक समान रहने वाला बताते हैं और सब कुछ करते हुवे भी अपने को अकर्ता कहते हैं(देखो गीता अ० ४ श्लोक ६ से १४ तक), उनके व्यवहारों का रहस्य दूषित भौतिक दृष्टि से समझा नहीं जासकता। इस रहस्य को समझने के लिये शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि की आवश्यकता है। अच्छाई और बुराई सापेक्ष्य द्वन्द है। जब भगवान सारे विश्व को अपने अन्दर दिखाते हैं, तो संसार की सारी अच्छाइयों और बुराइयों का समावेश उनमें हो जाता है। उनमें न कोई अच्छाई है और न कोई बुराई। इसी लिये तो हम हिन्दू लोग भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण कला का अवतार मानते हैं।

# पाठ ४९

## अवतारवाद

गोपा—पिता जी, एक स्वतन्त्र, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अखण्ड, अनन्त और अपरिमित ईश्वर का किसी खास व्यक्ति के रूप में अवतार कैसे हो सकता है?

पिता—जब वह सर्वशक्तिमान है और यह सारा विश्व उसी के अनन्त रूपों का बनाव है, तो किसी समय किसी विशेष विभूति सम्पन्न

अथवा अनेक विभूतियों से सम्पन्न रूप धारण करने की भी शक्ति उसमें होती ही है और जब उस ईश्वर को जगत् का निर्माता, सबका स्वामी, सबका नियन्ता और सबका रक्षक माना गया है तो वह अपने रचे हुए जगत को सुव्यवस्थित रखने के लिए किसी विशेष रूप में प्रगट हो, तो उसकी स्वतन्त्रता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता में कौन सी कमी आती है ?

गोपाल—जब वह किसी खास व्यक्ति के रूप में अवतार ले ले, तो परिमित हो जायगा, फिर सर्वव्यापक कैसे रह सकेगा ?

पिता—जब हम यह कहते हैं परमात्मा सर्वव्यापक है और सब व्यक्ति उसी के अनन्त रूप हैं, तो यह शंका उठ ही कैसे सकती है कि किसी विशेष विभूति सम्पन्न चमत्कारिक रूप में उसका विशेष प्रदर्शन होने से वह परिमित हो जायगा। जिन लोगों का यह आशङ्का है कि किसी विशेष चमत्कारिक रूप में प्रगट होने से ईश्वर उसी रूप में परिमित हो जायगा, वे उसके सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् होने के तथ्य का तिरस्कार करते हैं। संसार में समय समय पर विशेष चमत्कारिक व्यक्ति और शक्तियां प्रगट हुआ करती हैं, वे सब उस एक परमात्मा ही के रूप अथवा अवतार होते हैं। जो लोग ईश्वर को किसी खास स्थान में रहने वाला और खास गुणों से युक्त कोई खास व्यक्ति मानते हैं, उनका ईश्वर भले ही अवतार धारण न कर सके और अपने स्थान में बैठा हुआ जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने पैगम्बरों अथवा सन्तानों आदि को भेजकर निश्चिन्त हो जाय, परन्तु हिन्दुओं का ईश्वर तो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सब कुछ करने-कराने वाला है। इसलिए वह चाहे जिस रूप में प्रगट हो सकता है और फिर भी उसकी सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता में रत्ती भर भी त्रुटि नहीं आती।

## पाठ ५०

### क्या महाभारत और गीता कोरी कल्पना है ?

गोपाल—पिता जी, कई लोगों का कहना है कि महाभारत युद्ध कोई ऐतिहासिक घटना नहीं और न कृष्ण तथा अर्जुन ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं। किसी बुद्धिमान् पुरुष ने दैवी-आसुरी सम्पत्ति के संघर्ष को भारतीय युद्ध का रूपक देकर आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए गीता के उपदेश की कल्पना की है।

पिता—गोपाल, ऐसा कहने वालों के पास कोई प्रमाण नहीं है। यह केवल उनकी अटकल है। महाभारत युद्ध के तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन के होने का प्रमाण तो स्वयं गीता ही है, जिसकी के वे लोग खुद इतनी मान्यता करते हैं और जिस गीता का महाभारतकार श्री वेदव्यास जी ने भारती युद्ध के आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को कही जाना लिखा है, और बहुत से प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय के प्रमाण भरे पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिर का सम्वत भी अब तक प्रचलित है। फिर भी यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि यह सब कल्पना है तो वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सारा जगत ही मनकी कल्पना का खेल है। अतः उस दृष्टि से विचार करने पर जगत् के दूसरे अनन्त पदार्थों की तरह ही महाभारत युद्ध और गीता का उपदेश कल्पना की सृष्टि कह दें, तो कोई हानि नहीं है। हम सब लोग भी तो इस कल्पित जगत में कल्पित व्यवहारों की कल्पना ही कर रहे हैं।

## पाठ ५१

### गीता में पहिले पीछे विरोधी वर्णन नहीं है

गोपाल—पिता जी, एक शंका और रह गई। भगवान ने तीसरे अध्याय के तैंतीसवें श्लोक में और अठारहवें अध्याय के सैंतालीसवें

श्लोक में कहा है कि सबके अपने अपने धर्म श्रेष्ठ हैं और अन्त में अठारहवें अध्याय के छयासठवें श्लोक में कहा है कि सब धर्मों को छोड़ कर तू एक मेरी शरण में आ। ये तो दोनों विरोधी उपदेश हैं। इसका क्या कारण है?

पिता—देखो, बेटा! गीता में पहिले कही हुई बातों से पीछे कही हुई का विरोध कहीं भी नहीं है, क्योंकि इसका मूल विषय एक ही समत्व-योग है। यानी सब की एकता के ज्ञानयुक्त साम्यभाव से अपनी अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करना है और उसी की पुष्टि के लिए तथा उसी के साधन रूप से अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। इसलिए किसी बात का आपस में विरोध नहीं हो सकता। जहाँ कहीं विरोध प्रतीत हो, वहाँ विचारपूर्वक संगति मिला लेनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण के इस व्यवहारिक उपदेश में असम्बद्धता कभी नहीं हो सकती। यहाँ एक ही धर्म शब्द को लेकर जो विरोध प्रतीत होता है, सो वास्तव में ऐसा नहीं है। जो धर्म जिसका स्वाभाविक होता है, उस के लिये तो वही श्रेष्ठ होता है। वह कभी छूट नहीं सकता। जिस तरह आँखों का धर्म देखना, कानों का सुनना, नाक का सूँघना, हाथों का काम करना, पैरों का चलना, बुद्धि का विचार करना और मन का सँकल्प करना, शरीर का धर्म भूख प्यास आदि है, उसी तरह जिस जिस मनुष्य के अपने स्वाभाविक गुण की योग्यतानुसार जो कर्त्तव्य-कर्म होते हैं, उनको भी धर्म ही कहते हैं। वे छूट नहीं सकते और वे उसके लिये श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जो धर्म ऊपर से लगे हुए अथवा माने हुए होते हैं, जिस तरह जाति धर्म, कुल धर्म, साम्प्रदायिक धर्म आदि वे भेद और बन्धन उत्पन्न करते हैं, उन्हीं को छोड़ने को भगवान ने कहा है।

# पाठ ५२

## अन्तिम श्लोक का खुलासा

गोपाल—गीता के अन्तिम श्लोक में सञ्जय ने कहा है कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन हैं, वहीं लक्ष्मी, विजय और नीति है। अब जब कि कृष्ण और अर्जुन नहीं हैं, तो ये वर्तमान समय में नहीं रहनी चाहियें ?

पिता—उस श्लोक में कहा है कि जहां योगेश्वर अर्थात सब की एकता स्वरूप श्रीकृष्ण हैं और जहा धनुर्धारी अर्जुन अर्थात् युक्ति-सहित शक्ति है, वहाँ लक्ष्मी, विजय और नीति है। इसका यह तात्पर्य है कि जहाँ सब की एकता है और युक्ति सहित शक्ति है, वहीं लक्ष्मी, विजय और नीति होती है। जहाँ एकता नहीं है और बुद्धि बल नहीं है, वहां दरिद्रता, दासता, दीनता और मूर्खता का साम्राज्य रहता है, यह प्रत्यक्ष है।

* ॐ तत्सत *